चतुर्दिक्



राजकमल प्रकाशन

दिल्ली ६ पटना ६

वतदिक्

शिवप्रसाद सिंह

मूल्य रु० १२.००

प्रथम सस्करण १९७२
प्रकाशक राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
८ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली ६
मुद्रक जी० आर० कम्पोज़िंग एजेंसी द्वारा
शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस, के १८, नवीन शाहदरा दिल्ली ३२
आवरण हरिप्रकाश त्यागी

आदरणीय प० वाचस्पति पाठक को
उनके अरसठवें जन्म दिन
२५ सितम्बर के अवसर पर

'चत्वारि वाक् पदानि'

ऋग्वेद म ु वामदेव ऋषि ने एक अदभुत दश्य का साक्षात्कार किया। उन्होने देखा कि एक महावषभ आकाश म हुंकार रहा है। उसकी चार सीगें हैं तीन पर हैं, दो शिर हैं, और सात हाथ हैं। त्रिधा बँधा होने पर भी वह उछल रहा है और उसकी गजना स उच्छलित अमृत पूरी सष्टि के मत्य जनो को रससिक्त बना रहा है।

वाक की ऐसी अदभुत कल्पना शायद ही किसी और देश के किसी तत्त्व दर्शी ने की हो। परा, पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी मे विभक्त यह चार पदो वाली वाक् ही सम्पूर्ण विद्या की जननी है। समूचे विश्व म साहित्य के रूप मे जो भी रचा जाता है उसका जन्मदाता यही महावषभ रव है जो प्रणव है और उसके उत्स हैं रुद्र। इसीलिए रुद्र को सभी आत्माओ मे व्याप्त वाक रस का समुद्र कहा गया है। सर्वान्तरात्मा रुद्रो वाग्रससमुद्र।

मैंने जब 'चतुर्दिक' नाम की कल्पना की तो मेरे मन म चार प्रकार के निबन्धो के मात्र सकलन की बात नही थी। यह सही है कि इस सकलन म चार तरह के ललित निबन्ध सग्रहीत हैं, किन्तु इन निबन्धो को इस मोटे वर्गी करण म रख देने मात्र से ही मरे भीतर का रुद्र वाग्रससमुद्र प्रसाद को प्राप्त नही होता उसे मनचाही प्रसन्नता और सतुष्टि नही मिलती। आप इसे चाहे तो रचयिता का मोह कह सकते हैं क्योकि रचना भी एक प्रकार का सजन है और हमेशा ही मोह विद्ध होने के कारण होता है।

पर क्या इस मोह को जान लेने मे कोई हानि है? हाँ यह आप कह सकते हैं कि आपके पास निबन्धो को पढने की ही फुसत कम है फिर ऊपर से यह 'उपदेश' सुनने का कष्ट कौन करे। आपको सत्य बताऊँ सस्कृत वाङमय मे प्रयुक्त शब्दों के नानावर्णी रत्नछायाव्यतिकर अर्थों ने मुझे बहुत मोहा है पर यदि किसी शब्द स मुझे वाकई वितष्णा है तो वह है उपदेश। मुझे स्वय

इससे घृणा है और जिस दिन मुझे लगेगा कि मैं इस फरेबी नन्द का शिकार हो रहा हूँ मैं आपको विश्वास दिलाता हू, इस कुकृत्य से मैं स्वय विरत हो जाऊगा। मैं आपको उपदेश देने नही, आपके साथ सह चिन्तन करने निकला हूँ इसलिए हम यदि यात्रा के पहले उसके माग और दिक को नक्शो म देख लें तो क्या हज है?

आप कहेगे और आपके कथन की प्रामाणिकता म मीनमेख खोजना, मैं साहित्यकार के दायित्व को नकारना मानता हूँ, इसलिए जब आप कहेगे कि क्या आपन हमसे ज्यादा दुनिया देखी है जो दिशा और माग आपसे पूछा जाय तो मैं निवेदन करूँगा कि अनेक जागरूक यात्री भी अपने रास्ते म बहुत कुछ ऐसा छोड आते हैं जो ऊपर से बहुत आकषक नही होता, मासल चका चौंध पदा करके अपनी ओर आने का निमत्रण नही भेजता नकली और फरेबी एजण्टो के द्वारा अपनी मनोहारिता का विज्ञापन नही देता फिर भी विनप्त पयटक कन्द्रा और स्थाना स वह ज्यादा तसल्ली देने वाला और निमच्छिक तथा शान्त होता है। आप जीवन की आपाधापी म निरतर जीते ही हैं, चाह भी तो उसस उबरकर कहाँ जाएगे परतु अपनी इस दैनदिन यात्रा के बीच कभी आपने सोचा है कि यहाँ कुछ ऐस भी स्थल हैं नसर्गिक सौन्दय के स्रोत हैं अनछुए भावलोक की छवियाँ हैं जो अपनी यात्रा के बीच ही आपको सहज उपलब्ध हो सकती हैं।

हाँ हाँ होगी हम नहा दीखती आपको उनके बारे म कसे पता चल गया?

आपकी नाराजगी स्वाभाविक है। मैं अपने को सवज्ञ मानने की मूखता नही कर रहा नही कर सकता। मैं आपक बीच का ही अन्ना इन्सान हूँ। वसी ही दिक्कतभरी और घोर करन वाली यात्राए प्रतिदिन करता रहता हूँ। हम सभी त्रिधावद्ध हैं भूख स प्यास से और उन्निद्रा स। त्रिधा वद्धो वपभो रोरवीति—हम तो इस वपम की तरह हुकार भी करें तो हमारी गजना म गुस्स का गाज फेन ही ज्यादा होगा शान्तिदायक अमृत कहाँ है, वह तामस गाम तरह कहाँ स आ सकता है?

पर क्या आपन कभी सोचा है कि यहीं इस कमरे म जहाँ मैं और आप

भ्राप अनजाने एक दूसरा आरोप कर रहे हैं। आपको विश्वास नही हो रहा न ? मुझे भी नही होना था क्योंकि यह विश्वास जितना कुतूहल भरा है उतना ही खतरनाक है। नाहक शांति को गँवाने वाले इस विचार का अभी न होना ही अच्छा है, चाहे आइंस्टाइन जैसे वैज्ञानिकों की खोजों पर भले ही चिल्लाकर कहा गया हो वैज्ञानिक विकास के दौर में एक तथ्य बिलकुल स्पष्ट हो गया है कि भौतिक जगत में ऐसा कोई रहस्य नहीं है जो अपने से भिन्न एक महान रहस्य की ओर संकेत न कर रहा हो। बौद्धिकता के सभी प्रशस्त रास्ते, सिद्धान्तो और कल्पनाओं के सभी उपमार्ग इस बात की घोषणा कर रहे हैं कि अन्तत हम उस खाई के पास पहुच गये हैं जिसको नापने की क्षमता हमारे पास नही है। (द यूनिवर्स एण्ड डा० आइंस्टाइन, पृ० ११७) आखिर यह अमापनीय अज्ञेय तत्त्व क्या है ? यह पूरा विश्व त्रिदिक है, और इन तीनो दिको में व्याप्त जगत में कुछ भी ऐसा नहीं है, जिसे जाना न जा सके। लाचार इस अज्ञेय दिक को 'चतुर्दिक' कहने के अलावा बहरहाल कोई चारा नहीं।

"तो क्या आपके निबंध इस 'चतुर्दिक' की व्याख्या के लिए लिखे गए हैं ?" आप का पूछना स्वाभाविक है।

कमाल है, जिसे नील्स बोर (Niels Bohr) जैसे लोग परिभाषित करना तो दूर अनुमानित करने का भी साहस नही कर रहे हैं, उसे मैं अपनी छोटी बुद्धि से निबंधो में बाँधने की दुस्साहसिकता दिखाऊँगा यह आपने कैसे सोच लिया। चतुर्दिक शब्द जब मेरे मन में उठा तो निश्चय ही उसका अर्थ चारो ओर या चारो दिशाएं मात्र नही था पर मैंने वैज्ञानिको के द्वारा अनुमानित और अज्ञेय चौथे दिक को विश्लेषित करने का संकल्प नही किया है। त्रिदिक व्यापी जीवन के कशमकश में ही इतना कुछ कहने और सुनने को है कि अभी निबंधो के अनेक संग्रह लिखे जा सकते हैं लिखे जायेंगे। हाँ एक बात जरूर है कि इस स्थूल त्रिदिक के भीतर कभी-कभी अचानक अनायास कुछ ऐसा झाँक जाता है जो इस दुनिया से भिन्न किस्म का एक नया सस्पर्श लिए होता है कुछ ऐसा जो पकड में नही आता पर अपनी पूरमगंधी शीतल छाया से हम आह्लादित कर देता है। कवि के शब्दो से परे, चित्रकार की तूलिका के वर्ण और रेखाओ से भिन्न, वास्तुकार की छेनी और हथौडे तथा विशाल पाषाण खण्ड से अलग कुछ ऐसा जरूर है जो अपनी हल्की उपस्थिति मात्र से कवि की रचना को चित्रकार के चित्र को और वास्तुकार की मूर्ति को संगीतन के स्वप्न संसार को एक नई प्राणवत्ता दे जाता है मैंने कोशिश की है कि जाने पहचाने रोजमर्रा की त्रिदिग्व्यापी जिन्दगी के शान्त जल में पडने वाली यह चतुर्दिक की हल्की छाया भी यदि कहीं शब्दो में बँध सके तो ऐसा अवश्य किया जाय।

यह मेरे ललित निबंधो का तीसरा संग्रह है। 'शिखरो के सेतु' के बाद

घाटियो की यात्रा स्वाभाविक है। 'कस्तूरी मृग' उसी भटकते हुए मृग के चरण चिह्नो को उरेहने की कोशिश है। 'कस्तूरी मृग' की यह 'चतुर्दिक' भागमभाग हो सकता है आपको व्यथ लगे, पर परम बुद्धिमान मनुष्य भी ग्राज तक इस अकल्पनीय गति का कारण नही बता सका है। नदी बहती क्यो है, नक्षत्रो की परिक्रमा किस लिए है परमाणुग्रो की दौड के पीछे क्या रहस्य है यदि ग्राप इन प्रश्नो का उत्तर जानते हैं तो ग्रापको कस्तूरी मृग की चतुर्दिक दौड बहुत ऱ्यथ नही लगेगी। बहरहाल दिक काल के बिना ग्रबूझ है। ग्राप यदि चतुर्दिक को समझना ग्रौर उसे तराजू पर चढाना चाहते हैं, जो ग्रापको हर हालत म करना चाहिए ही, तो निवेदन है कि ऱिशा ग्रौर धावक मग दोनो को ए।त्र रखकर उनकी परस्परावलबिता पर ग्रवश्य ध्यान दें।

सुधर्मा १३ गुरुधाम, वाराणसी ५
नारदीय नवरात्र स० २०२६

— शिवप्रसाद सिह

अनुक्रम

द्विवचन तीन अन्तर्वार्ताएँ

आत्मनेपद तीन आत्मवीक्षाएँ

विधेय सार्वत्रिक

समयामाता

जब भी समयामाता का ध्यान आता है बाबू अलियारसिंह का चेहरा मरी आखा के आगे नाचने लगता है। समयामाता मेरे परिवार मे इष्टदेवी की तरह पूजित होती है। मैं नही जानता कि हिन्दुओ के तैंतीस करोड देवताओ म व किस सख्या को सुशोभित करती हैं पर बचपन मे उनकी पूजा के जो भी दृश्य देखे हैं वे उन्हे सबसे अधिक मायाविनी, क्रूर पूजालोलुप और आशु तोषिणी देवी के रूप मे निसदेह बहुत ही महत्त्वपूण स्थान देने की सिफारिश करत हैं। वष मे एक निश्चित दिन पर समयामाता की पूजा होती। गोबर से लिप आगन म बीचोबीच आटे स चौका पूरा जाता। चौके के बीच खेतो स चुने हुए गोबर के कडे सुलगा दिये जाते। उनकी धुमली आग पर रखा मिट्टी का खप्पर दूध से भर दिया जाता। आग के दक्षिण पाश्व म पडित और आग के सामने पूर्वाभिमुख बाबू अलियारसिह। आँगन म बठी स्त्रियाँ गीत गाती। खप्पर के सिरे पर बँधी कनर के फूलो की माला लपटो मे झुलसने लगती। दूध उफनाता। दरवाजे पर बजते नगाडे की आवाज़ आरोह लेती कि अलियार सिंह दोनो हाथ हिला हिलाकर असुवान, दहाडने गरजने लगते। वे हवन की आग हाथ म उठा लेते—"डाल घी, डाल घी, बोल समयामाता की ज—बोल बोल समयामाता की ज पडितजी पल्लव स उठाया घी अलियार सिंह के हाथ म रखी आग मे डालने लगते। देवी साक्षात हवन माँग रही है। दूध उफ नाता। अलियार सिंह जलते दूध मे हाथ डालकर फेन हलकोरकर सामने झुके पुजारी के सिर पर ज़ोर से आघात करते— जो कल्यान होई।'

ज़रा खुल के महरानी ई क्या गरदन दबाय के बोल रही हो देवी जब हियरा खोल के पूजा ले रही हा तो हियरा खोल के रच्छपाल भी बोलो। हरखू साखा समयामाता को छेड़ते। हियरा खोल के पूजा कहाँ मिली सवक। समयामाता शिकायत करती— न तो अब वह बढिया कन्हावर (पीली धोती)

मिलती है, न उतना रोट (गुड़ की मीठी पूरी) न मिठाई, न लस्सी, न प्यार।' समयामाता का चेहरा ध्याय से विष्ण हो जाता।

'जमाना नहीं देखती महरानी, चारों तरफ गिरानी छाई है। ऐसे में सावक तो जो जुटा बना, कर लिया। तुम्हारी सरनाम में तो कभी नहीं आई, तो तुम्ह भी रच्छपाल बोलने में कपट नहीं करना चाहिए।' हरनू सोखा फिर दूना देते।

तुरन्त तुरन्त पानी में नहलाया मरियल मेमना जो लस्सी की अनिवार्यता की पूर्ति के लिए जरूरी था, समयामाता के सामने खींचकर लाया जाता। पंडित उसके गले में कनेर की माला डालते, सिर पर रोरी लगाते, उसके ऊपर अक्षत डालकर उसे देवग्राह्य बनाते। हरनू सोखा एक झटके से गरदन काटने में इतने प्रसिद्ध थे कि मरियल मेमने को देखकर गड़ासा की जाँघ को तौहीन समझते। हल्के से वार के साथ कटी गरदन खप्पर के पास धर दी जाती। समयामाता एक चिल्लू खून मुँह में डाल लेती, और पंडित कटी गरदन पर पल्लव से पानी डाल गलकर लस्सी के हिलते होठों को शान्तिपाठ सुनाते। नगाड़े की आवाज फिर गुड़गुड़ाती। भिगोये चने, लड्डू और रोट का प्रसाद उपस्थित लोगों में बाँट दिया जाता। इस तरह समयामाता की पूजा समाप्त होती।

मैं अनेक बार इस देवता के बारे में जिज्ञासा से भरा चंचल बना इधर-उधर टटोलता रहा हूँ। यह पूजा पूर्वी उत्तर प्रदेश में काफी दूर-दूर तक प्रचलित है। और स्थानों में होती है या नहीं पता नहीं। वाराणसी में कमच्छा पर सम्मो माई का मंदिर है। मैंने इस देवता के नाम पर जब भी सोचा विचारा है एक अजीब आश्चर्य से मन भर गया है। समया और कुछ नहीं, समय का ही स्त्रीलिंग रूप है। समया की पूजा वस्तुतः काल की वक्त की जमाने की पूजा का ही नाम है। समय से बड़ा और देवता हो भी क्या सकता है। सुख और दुःख ये ही दो तत्त्व देवता को मनुष्य के लिए अनिवार्य बनाते हैं और सुख और दुःख की स्थिति समय के बिना सिद्ध नहीं होती है। काल की स्त्री काली है, समय की समया।

काल दिक् से ज्यादा सूक्ष्म तत्त्व है समया, इसी कारण ज्यादा विचित्र देवी है। काल दिक से पहले वर्तमान था काल दिक के अवसान के बाद भी विद्यमान रहेगा है शायद इसीलिए अथर्ववेद में कहा गया —

काले मन काले प्राण काले नाम समाहितम।
काले सर्वान् दन त्यागतेन प्रजा इमा ॥

[१६।६३।७]

काल से ही सबका जन्म होता है। जो भी जनन करने की शक्ति से संयुक्त है, काल उसका भी जनक है। जन्याना जनक काल (भाषापरिच्छेद)। यह काल

इतना सूक्ष्म है कि इसके माप के सभी प्रयत्न व्यर्थ हो जाते हैं। संसार में समय के मापने के बहुत से तरीके हैं। सभी प्राचीन संस्कृतियों में समय की कोई न कोई माप प्रचलित है पर समय की माप की भारतीय पद्धति निःसन्देह अपनी विशदता और विराटता में सबको आश्चर्यचकित कर देती है। लघु-लघु त्रुटियों से भरा यह विशालकाय समय मापयन्त्र इतना त्रुटिहीन है कि सहसा बुद्धि पंगु हो जाती है। समय का सबसे छोटा यानी लघुतम खंड निमेष है। निमेष यानी पलक गिरने में जितना समय लगे। दो निमेष की एक त्रुटि और १० त्रुटि का एक प्राण और ६ प्राण का एक पल होता है। साठ पल की एक घटी। ६० घटी का एक दिन और ३६० दिनों का एक वर्ष। सबसे छोटा युग कलियुग है और सबसे बड़ा सतयुग। कलियुग की आयु चार लाख बत्तीस हज़ार वर्ष की है जबकि सतयुग की १७ लाख २८ हज़ार वर्ष की। कलियुग का दूनी द्वापर और तिगुनी त्रेता की आयु मानी गई है। इस प्रकार जब ये चतुर्युग बीत जाते हैं तो एक महायुग बीतता है। एक कल्प में इस तरह के एक हज़ार महायुग होते हैं।

यह सारी गणना निश्चय ही हमारी पृथ्वी के लोगों की पृथ्वी की सापेक्ष्यता पर आधारित है। आज भी हिन्दू जब कोई व्रत त्यौहार या पूजा अनुष्ठान करता है तो अपनी सत्ता को विराट ब्रह्माण्ड में निश्चित दिक् काल देने के लिए संकल्प करते हुए कहता है—श्री पुराणपुरुषोत्तमस्य श्री विष्णोराज्ञया प्रवर्तमानस्याद्य श्री ब्रह्मणो द्वितीयपरार्द्धे श्री श्वेतवाराह कल्पे वैवस्वतमन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे कलियुगे प्रथम चरणे जम्बूद्वीपे भारतवर्षे बौद्धावतारे वर्तमाने यथा-नामसंवत्सरे मासानाम उत्तमे अमुक मासे अमुक तिथौ अमुक नक्षत्रे आदि आदि।

इस संकल्प से स्पष्ट है कि इस समय वर्तमान ब्रह्मा के दिवस का द्वितीय परार्द्ध चल रहा है। श्वेतवाराह कल्प है। वैवस्वत मन्वन्तर है। यह मन्वन्तर प्रथम परार्ध का अंतिम भाग है। यहाँ से ब्रह्म दिवस की समाप्ति और ब्राह्मी रात्रि का उदय होता है। सावर्णि को ब्राह्मी रात्रि का प्रथम मनु कहा गया है। ब्रह्मा की अपनी अहोरात्रि के हिसाब से १०८ वर्ष की आयु कही गई है। उसकी समाप्ति पर अखिल सृष्टि का लय हो जाता है। उस समय पुराणपुरुषोत्तम श्री विष्णु की पलक गिर जाती है और उनका एक निमेष पूरा हो जाता है।

यह सारी बातें हमारे ब्रह्माण्ड की हैं। विराट के क्रिया कलाप में हज़ारों ब्रह्माण्ड बुलबुलों की तरह निरन्तर उदित और विलीन होते रहते हैं।

ऐसा है विराट कालचक्र। और यह कालचक्र, जिसका ऊपर विवरण दिया गया क्या अन्तिम और अक्षर है। नहीं। यह सिर्फ एक ब्रह्माण्ड की जिसमें हमारी पृथ्वी है और जिसमें हमारी अवस्थिति है, काल प्रक्रिया है। इस तरह के हज़ारों हज़ार ब्रह्माण्ड इस अनन्त शून्य में निरन्तर उत्पन्न और विलीन होते

रहते हैं, उनका कोई हिसाब नहीं। इस विराट कालचक्र को देखते हुए भी कुछ मामूली पचीवर्षों तक जीवित रहने वाला मनुष्य अपने होने का अभिमान ढोता है। कितना अपराध है यह होना और यह होने का दम।

ब्रह्मवैवर्त पुराण में इन्द्र के मानभंग की एक कथा दी हुई है। यह कथा प्रकारान्तर से समयमाता की ही कथा है। वृत्रासुर से नष्ट अमरावती को पुनः प्राप्त करके इन्द्र ने उसकी पुनरचना का निश्चय किया। देवशिल्पी विश्वकर्मा पूरे सौ वर्षों तक रचना में लगे रहे। ऐसा सुन्दर सुरम्य नगर शायद ही कहीं बना हो, परन्तु देवराज इन्द्र सन्तुष्ट नहीं हुए। वे एक न एक त्रुटि निकालकर देव शिल्पी का अपमान करते रहे। लाचार विश्वकर्मा अपने आराध्य महत्तम विश्व कर्मा ब्रह्मा के पास पहुंचे और अपनी परेशानी बताई। ब्रह्मा ने विष्णु से प्रार्थना की और विष्णु एक ब्राह्मण बटुक के वेश में इन्द्र के दरबार में उपस्थित हुए।

'इन्द्र, तुमने एक अद्भुत नगर का निर्माण कराया है। लेकिन सुना अभी तुम इससे पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हो। ऐसा नगर पहले के किसी भी इन्द्र ने नहीं बनवाया। अभी उसके निर्माण में विश्वकर्मा को और कितने वर्ष प्रयत्न करना होगा?

ब्राह्मण बालक की बात से कुछ-कुछ तुष्ट कुछ रुष्ट इन्द्र ने कहा—'आप कितने इन्द्रों को जानते हैं?'

बालक ठठाकर हँसा—'मैं तुमसे पहले के अनेकानेक इन्द्रों को जानता हूँ। तुम्हारे पिता कश्यप को उनके पिता मरीचि को मरीचि के पिता देवेश्वर ब्रह्मा को भी।

"मुझे उस एकार्णव प्रलय का भी ज्ञान है जो सम्पूर्ण प्राणियों को शून्य एवं भयानक लगता है। इन्द्र यह सृष्टि कई प्रकार की है। कल्प भी अनेक हैं और ब्रह्माण्ड भी अनेक। उन ब्रह्माण्डों में अनेक ब्रह्मा विष्णु महेश इन्द्र होते रहते हैं। उनकी गणना कौन कर सकता है। सुरेश्वर भूतल के धूलिकणों की गणना आसान है इन्द्रों की नहीं। इन्द्र की आयु सिर्फ इकहत्तर चतुर्युग तक है। अट्ठाईस इन्द्रों का पतन हो जाने पर ब्रह्मा का एक दिन रात बीत जाता है। इस प्रकार ब्रह्मा की कुल १०८ वर्ष की आयु होती है।'

इन्द्र यह सब आश्चर्य से सुन ही रहा था कि ब्राह्मण बालक कमरे में घुसती हुई चींटियों की कतार देखकर हँसा। इन्द्र ने थोड़ा डपटकर पूछा—'ऐसे क्यों हँस रहे हो?

ये सभी पूर्वजन्म के इन्द्र हैं। ब्राह्मण बालक बस ही हँसता रहा—अभी भी इनका इन्द्रासन का मोह नहीं गया।'

तभी एक जर्जर काष्ठाकार परमवृद्ध ऋषि सिर पर बांस की छतरी ओढ़े दरबार में हाजिर हुए।

"ब्रह्मन् आपका परिचय ?' इन्द्र ने दुगुने कुतूहल से पूछा—"आपके सारे शरीर पर इतने रोम क्या हैं ? और य बीच के कुछ रोएँ किसने उखाड दिये हैं। आप सिर पर चटाई रखकर क्यों घूम रहे हैं ?'

मेरा नाम लोमश है। चटाई लेकर इसलिए घूमता हूँ सुरेन्द्र, कि इतनी छोटी आयु पाई है उसके लिए घर क्या बनाऊ ? इसीलिए विवाह भी नहीं किया। मेरी आयु ब्रह्माजी के एक दिन का सिर्फ आधा हिस्सा मात्र है यानी ब्रह्म दिवस का एक पराध। फिर तुम्ही कहो इतनी छोटी आयु वाले व्यक्ति के लिए क्या मकान बनवाना चाहिए ?"

और रोएँ ? इन्द्र को पसीना छूट रहा था।

मुनि लोमश मुसकराए—"इनकी भी एक कहानी है।' उन्होंने अपने वक्ष पर बचे हुए रोओ पर प्यार से हाथ फेरा—"जब एक इन्द्र मरता है, तब एक रोआँ उखड जाता है।"

क्या ?"

इन्द्र अचभे से ताकता रहा। तभी दोनों व्यक्ति, वद्ध और बालक अतर्धान हो गए। हाय बेचारा इन्द्र!

तो यह है समयामाता के अछोर दामन का विस्तार जिसम हजारा ब्राह्मण अभ्रक के लघु लघु कणो की तरह चमकते रहते हैं, और किस झटके म कब और कैसे कोई अभ्रक कण आचल से खिसक जाता है कौन जाने ?

समय की ये सारी मापिकाए जसा पहले ही कहा गया, व्यक्ति सापेक्ष्य हैं। व्यक्ति ही इनके केन्द्र म है व्यक्ति हो इनके बाहर। व्यक्ति की पलको का गिरना निमेष है तो उनका सदा के लिए बन्द होना कालभोग। व्यक्ति जब इस कालचक्र के भीतर अपने को असहाय पुर्जे की तरह सोचकर निष्क्रिय हो जाता है तो वह समयामाता के आँचल की घूणन म निचेष्ट घूमता रहता है। मनुष्य की शक्ति इस काल का वशीभूत करने म है या इसे प्रसन्न करके अपने अनुकूल बनाने में निहित है।

कोई भी काल बुरा नहीं होता, कोई भी काल अच्छा नहीं होता। अकाल, सकाल निकाल कुकाल तो सिर्फ हमारी असमर्थता के विभिन्न नाम हैं अथवा हमारी मजबूरी के पर्याय हैं। हमारे देश मे सबसे बुरा काल कलियुग कहा गया है क्योंकि इस युग मे धर्म का वृषभ सिर्फ एक पाद पर आरूढ है। उसके तीन पाद नष्ट हो चुके हैं। एक पर वाला वृषभ निश्चय ही गतिहीन और पगु प्राणी का प्रतीक है। सतयुग त्रेता, द्वापर और कलि काल के विशेषण नहीं उससे टकराने वाली व्यक्तिसत्ता के विशेषण हैं। सतयुग उसके लिए है जो चारों परो स यानी पूर्ण गति से गत्वर है सक्रिय है, प्रबुद्ध और चलायमान है। त्रेता निश्चय ही उस प्राणी की दिनचर्या का नाम है जो खडा तो रह सकता है पर चलन

की दिशा नही जानता। जो विवेकहीन और किंकर्तव्यमूढ़ है। द्वापर सदेहग्रस्त प्राणी का काल-पर्याय है जो सुप्त और जाग्रत अवस्था के बीच अनबुद्ध पड़ा है। कलि का एक चरण चिरनिद्रा और कर्तव्यहीनता का सूचक है। इसीलिए ऐतरेय ब्राह्मण की घोषणा है —

कलि शयानो भवति सजिहानस्तु द्वापर ।
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृत सम्पद्यते चरन ॥

[७।१५]

तुम सोये हो तो कलियुग है, अलसाए हुए जगे भी, पर कुछ करते नही तो द्वापर की स्थिति जानो, उठ तो गए पर चलने की दिशा का भान नहीं तो त्रेता है, कृतयुग चलने का नाम है।

तो भाई चलो। यदि चाहते हो कि समयामाता तुम्हे अपने मादक अनछोर दामन म लपेटकर निरन्तर घुमाती ही न रहे तो उठो, खड़े हो सक्रिय बनो, चलो। क्योकि जो चलता है, वह बन्धन म नहीं पडता। इसीलिए ऋषि चिल्ला चिल्लाकर कहते हैं—चरवति चरवेति।

काल से डरने की भी जरूरत नही। तुम जिसे काल समझते हो वह वस्तुत किसी नीरस पदार्थ का अहृदय फलाव भर ही नही है। जिसने काल को जान लिया, जो उसके सूक्ष्म तत्त्व और शक्ति के स्रोत से परिचित हो गया वह जानता है कि काल स्वर्गिक मधु और अमृत से भरा हुआ है। यह वह नही है जिसके ऊपर कालकूट की उष्ण तरगें हैं, ज्वाला है पर इसके भीतर निरन्तर शीतल अमृत प्रवाहित हो रहा है। उपनिषदों की मधुविद्या कालविद्या से कतई अलग नही है।

इस अमृत का रहस्य क्या है ? वज्ञानिक कहता है कि काल चौथा दिक है। त्रिदिक से परे उससे अलग। यानी इस अहृदय को देखने का समझने का, इसका रहस्य जानने का ढग भी कुछ न कुछ अनोखा तो होगा ही।

वह अनोखापन है काल का मनुष्य प्रदत्त विशेषणो से अलग करके देखना। विशेषणा से रहित होते ही काल शुद्ध सत्त्वमय हो जाता है। बुरे प्रभाव यत्रणाएँ, भाग हुए दु ख सभी सुखद स्मृति मे बदल जाते हैं। हम किस रहस्यात्मक प्रसन्नता के साथ अपने विगत दुर्दिनो को याद करते हैं। बीता हुआ समय इस तरह सुखद क्यो बन जाता है ? बीमारी, कष्ट यातना के गुजरे क्षण हमारे तामसिक और राजसिक सम्बन्धो से अलग होते ही सत्त्वमय आनन्द सत्ता का अग बन जाते हैं इस दृष्टि से अतीत हमेशा ही सतयुग है वतमान हमेशा ही कलियुग। क्या हम वतमान को विशेषणहीन काल या सतयुग नही बना सकते ? काल क्या है ? यह और कुछ नही तुम्हारी साक्षी अन्तरात्मा का ही नामान्तर है। कालोऽन्तरात्मा सवदा सवदर्शी [अग विज्जा की टीका]। भला कोई अपनी

अन्तरात्मा से डरता है, कोई अपने से ही अपना दुराव करे तो फिर बचाव कहां ?

इसलिए मनुष्य को कभी भी समय असमय सुसमय-कुसमय जैसे शब्द प्रयोग मे नही लाने चाहिए। लोग कहते हैं—भाई क्या करें, बडी बुरी घडी आई है। यदि यह वाक्य समयमापक आधुनिक यन्त्रिका के लिए कहा जाय, तो कुछ हद तक सही हो सकता है पर यदि घडी का अर्थ घटी' है तो उसके घटने मे कु या सु का क्या सम्बन्ध। घडी कुछ नही, घटी की ही बेटी है जैसे कटाह की बेटी कडाही। तो कुघडी-सुघडी का अर्थ क्या हुआ। लोग घटने को भी सामान्य ढग से घटने देना नही चाहते। ऐसे ही लोगो के हाथ मे काल विषधर सर्प की तरह डँस जाता है, और वे सारा दोष समयामाता के मत्थे डालकर रोते रहते हैं। जो घटने वाला है, उसे घटने दो। उसमे आसक्ति होगी तो 'लव निमेष' 'कल्प' के समान और कल्प लव निमेष के समान व्यतीत होगा, इसमे शक नही। सापेक्ष्यतावाद के उदाहरण के लिए यह सब तो ठीक है कि एक सुन्दरी युवती के साथ बिताया हुआ एक घटा दस मिनट के बराबर और एक बदबूदार गली मे बिताए दस मिनट एक घटे के बराबर लगते हैं। कही तुलसीदास को "लव निमेष परमान जुग लगता है तो कही निमिष बिहात कल्प सम तेही' ऐसा प्रतीत होता है। पर ये सभी काल की सत्ता को सही ढग से न समझने वाला के दृष्टिकोण के उदाहरण मात्र ही हैं।

असल मे काल निर्विशेष निरुपाधि सत्ता है इसे जानकर ही उसके भीतर छिपे अमृत का सधान किया जा सकता है। काल की सत्ता से रजस और तमस को निकाल सकना ही मधुमती विद्या है। जो ऐसा कर सकता है, वही उसके भीतर के अमृत को जान पाता है।

इसे कबीर जानते थे, इसीलिए उन्होने बडे विश्वास के साथ थोडे रोत्र से कहा —

कहैं कब्बीर कोई सन्त जन सूरमा
काल निच्चोरि क अमृत्त पीव।

कबीर के लिए काल की सत्ता लत्ता मात्र रह गई और उन्होने उसे निचोड कर उसका अमृत पी लिया इसीलिए उनके लिए समयामाता की पूजा जरूरी नही थी। न तो उन्हे मेमने की बलि देनी पडी और न ही भयभीत होकर किसी ओझा के सामने घुटने झुकाकर प्रणिपात करने की नौबत आई।

भविष्यत् शान्ति-पर्व

काशी ३१ १२ २०००। रात्रि साढे ग्यारह बजे का समय सिफ आधा घण्टा और! फिर हमारी पथ्वी एक नई सहस्राब्दी की गोद मे उतर जाएगी। दो हजार वष पूव उस व्यक्ति को 'क्रूस' पर लटकाया गया था, जिसने धरती के मानवो को करुणा और प्रेम का तथा पाप और उससे निष्कृति का सन्देश दिया था।

कसा दारुण और रहस्यमय होता है समय चक्र!

ईसा से दो हजार वष पूव ठीक ऐसी ही रात्रि को वल्कि साँझ के झुट पुटे मे ही एक बहेलिये ने उस व्यक्ति को विपला तीर मारा था जिसने अनासक्त कमयोग का सन्देश दिया था।

और कृष्ण से भी दो हजार वष पूव? क्या हुआ था? शायद नचिकेता *यम के द्वार पर जीवन अग्नि का रहस्य पूछने के लिए उपस्थित हुआ था।* यम के द्वार पर स्वय अपने ही पिता के हाथो भेजा हुआ। क्या प्रत्येक दो हजार वर्षों के बाद किसी-न किसी महामानव का 'क्रूस पर चढना जरूरी होता है? क्या मनुष्य अपने को जीवन कम और प्रेम का सन्देश देने वालो की हमेशा हत्या ही करता रहेगा? क्या एक पीढी अपनी सन्तति को अपने ही हाथो यम के द्वार पर भेजने की परम्परा हमेशा ढोती ही रहेगी?

आज की रात्रि मेरे सामने ये प्रश्न भी उठे मैं मानता हू पर सिफ एक क्षण को ही। क्योंकि २००० ईसवी की यह अन्तिम रात्रि इतनी सन्दभहीन है कि मैं चाहकर भी इसे इतिहास से जोड नही पाऊँगा। सारा इतिहास हमारे अस्तित्व से कटकर लावडे की शक्ल म छटपटा रहा है। छटपटाना क्रिया शायद ठीक नही है, अवसन्न हो चुका है। सन् १९८१ से शुरू होनेवाला विश्व युद्ध अभी अभी समाप्त हुआ है। लोग कहते हैं कि दो एक पीढियाँ पहल से ही हम इतिहास से अलग होने लग थे किन्तु असली अलगाव तो हमी भोग रहे हैं, सही अर्थों म स्थूल अर्थों म अलगाव। मुझे मालूम नहीं कि विश्व क दूसरे

स्थाना मे, इतिहास के साक्ष्य जितना कुछ बचे खुचे, रहे सहे। पर अपने देश म तो कुछ भी साबुत न बचा। न तो पूवजो की निशानी अजन्ता एलोरा बची, न ताजमहल बचा न भाखडा नगल रहा, न अणुभट्टी अप्सरा ही बची। सभी कुछ महाकाल के अन्ध उदर मे समा गया। इतिहास इस कदर घायल और क्षत विक्षत शायद ही कभी हुआ हो। धर्मविश्वासी पुराणो के मन्दिर और स्तूप तो गए ही, विज्ञानवादियो के आधुनिक मन्दिर भी इस विभीषिका से बच न सके। कालगत इतिहास जब इतना निरथक और अस्तित्वहीन बन गया तो देशगत भूगोल की बात क्या करूँ। 'भू' तो अब भी गोल ही है पर जाना पहचाना भूगोल समाप्त हो गया है। ह्स्वमामूल अणु के भीतर छिपी गरमामूल शक्ति का उदघाटन करनेवाले पूवजो की मेधा क्या इतना छोटा-सा तथ्य भी जान न सकी कि देशो की सीमाएँ भूगोल शास्त्र का दिल बहलाव मात्र होती है। जमीन का एक चप्पा चाहे इस नक्शे मे रहे या दूसरे म, कोई फक नही पडता। पर नक्शो को बदलने की नामुराद ख्वाहिश ने आज इसान को इस कदर बदल दिया है कि उसे पहचानना भी मुश्किल हो गया है।

ततीय महायुद्ध जब शुरू हुआ तो मैं सिफ बारह साल का था। माँ डॉक्टर थी पिता राजनीति के प्रोफेसर। हमारा छोटा सा परिवार था। खूब खुश, खूब प्रसन्न। पर मुझे हमेशा लगता था कि कोई काली सी डरावनी चीज बदसूरत चील की तरह पख फलाए हमेशा हमारे बँगले पर मँडराया करती है। मैं भूत-सूत म विश्वास नही करता पर चाहकर भी उस मनहूस छाया को भुला नही पाता। बोलते हँसते बातें करते, चाय पीते, रेडियो सुनते अचानक पिताजी कापने लगते। उनका चेहरा पीला पड जाता। ललाट पर पसीने की बूदें उभर आती। मा दौडी दौडी आती। ठण्डे पानी से उनका मुह धोती। गालो को थपथपाती।

बन्द करो रेडियो!" वे चीखकर मुझे डाटती—'सौ बार कहा कि रेडियो मत खोलो मत खोलो। इन्हें 'हायपर टैंशन है। पर तुम सुनते नही।'

'मम्मी, मैंने नही खोला। मैं धीरे से कहता।

नही खोला तो ठीक है चलो, भागो, जाओ उधर खेलो बगीचे म।

मैं चुपचाप बगीचे मे चला जाता।

मम्मी जब अस्पताल चली जाती पिताजी फिर रेडियो खोल लेते या अखबार लेकर बठ जाते। उस समय उनका चेहरा देखने लायक होता। वे अक्सर बडबडाते नक्सलवाडी! भूखी पीढी!

मैंने एक दिन बहुत साहस करके उनसे पूछा 'पापा क्या नक्सलवाडी भूखी पीढी से लड रही है?

वे बहुत प्यारे ढग से मुसकराए।

नहीं बेटे।' उन्होंने मेरे गाल पर हलकी सी चपत लगाते हुए कहा, "इतिहास भूगोल से लड रहा है।'

मैं कुछ समझ न पाया।

"क्या नक्सलबाडी और भूखी पीढी एक ही आदमी के दो नाम हैं?" मैंने फिर साहस करके पूछा।

'अरे नही भाई।' वे इस बार प्रोफेसराना अन्दाज म बोले, 'इन दोनो मे बहुत फक है। नक्सलबाडी चीनी रेडगाड स से प्रेरणा लेती है जब कि भूखी पीढी अमेरिकी बीटनिक्स से।'

तो दोनो मे बहुत फक है?'

हा, हा बहुत फक। चीन और अमेरिका एक-दूसरे के दुश्मन हैं। एकदम विरोधी, एक दूसरे के बिलकुल उलटे।'

तो उनके एटमबमो में भी फक होगा?' मैंने पूछा।

अचानक पिताजी का चेहरा टेढा होने लगा। उनके सारे बदन म कँपकँपी होने लगी। घर मे अम्मी भी नहीं थी। मैं बिलकुल घबरा गया। मुझे समझ मे न आया कि क्या करूँ। मैं धीरे से बगीचे मे भाग गया।

लोग कहते हैं कि सन १९६७ इस शताब्दी का बहुत महत्त्वपूण साल था। आज जो कुछ भी हो रहा है इस समूचे निरथक और रहस्यात्मक घटनाचक्र की एक पूव झलक उस वप अचानक मिल गई थी। नियति बहुत कजूस और क्रूर होती है। वह अपने भ्रूण म विकसित होती दत्याकार घटनाओ को इस तरह गोपनीय बनाये रहती है कि कही से भी कुछ सकेत नही मिलता। नियति का दूसरा नाम ही आकस्मिकता है। इस आकस्मिकता को आकस्मिक रहने देना मानव की पराजय है असफलता है। समय से पूव इसे जान लेना जानने की कोशिश करना उसकी शक्ति का द्योतक है उसकी साथकता है। इतिहास मनुष्य का प्रयत्न है भूगोल नियति की क्रीडा। इनके बीच की खाई पाटने का प्रयत्न ही ज्ञान है विज्ञान है।

सन ६७ म अचानक नियति के भ्रूण का आवरण थोडा चिटक गया था। पश्चिम एशिया म अरबो और यहूदियो का युद्ध, चीन द्वारा हाइड्रोजन बम का परीक्षण, भारत के आम चुनावो म कांग्रेस का टूटना, और नक्सलबाडी का विद्रोह आदि घटनाए मोटे मोटे शीषको म छपी थी। वे स्थूल घटनाए थी। उतनी ही स्थूल जितना चीन म सवत्र रेडगाड स की अमानवीय सक्रियता अथवा यूरोप और एशिया के अनेक भागों म बीटनिक्स हिप्पीज और बीटल्स का आक्रमण। य घटनाएँ सिफ सुखियाँ बनकर रह गइ। य तो

उपलक्षण मात्र थी, स्थूल बाहरी 'सिम्पटम्स' भर। इनके पीछे इनके भीतर, तल में छिपे असली विस्फोटक तत्त्व को जानने की न तो कोशिश की गई और न ही उसकी रोक थाम का उपाय ही। हाय री इन्द्रियबोधपरक संस्कृति!

पिताजी का स्वास्थ्य निरंतर बिगड़ता जा रहा था। परेशान तो सभी थे। समूचा जीवन क्रम उलट गया था। युद्ध की शुरुआत के वे प्रारम्भिक वर्ष सिर्फ स्नायु परीक्षा के वर्ष थे। चारों तरफ भय, दहशत, और ध्वंस। मैं सोचता हूं कि पिताजी युद्ध की खबरों और ब्लैकआउट की मनहूस रुटीन को झेल नहीं पाते थे। पर शायद यह कहना ठीक नहीं है।

'क्या आप युद्ध से परेशान हैं? यह तो कोई अलग की व्यक्तिगत चीज नहीं, सभी इसमें फँसे हैं फिर आप ही क्या इतना चिन्तित होते हैं?" मैंने एक दिन बुजुर्गाना अन्दाज़ में पूछा।

'मैं युद्ध से परेशान नहीं हूँ बेटे!" उनका चेहरा अचानक चमक उठा— सच कहो तो मैं बहुत दिनों से उसकी प्रतीक्षा में था। मैं परेशान सिर्फ इसके आकस्मिक मोड़ की आशंका से हूँ।"

"आप युद्ध की प्रतीक्षा में थे?' मुझे सहसा पिताजी की बातों पर विश्वास नहीं हुआ। मेरे पिता बहुत ही कोमल मन के स्नेह भरे व्यक्ति थे। ऐसे आदमी के मुंह से ऐसी गन्दी बात सुनकर मुझे धक्का लगा।

"तुम गलत सोच रहे हो।' उन्होंने कहा, युद्ध की प्रतीक्षा इतनी सरल समस्या नहीं कि तुम इस पर अच्छे-बुरे का लेबुल तुरंत चिपका दो। यदि युद्ध नहीं होता तो बाकी दुनिया में जो कुछ होता, सो होता, भारत बिला जाता। खत्म हो जाता। युद्ध में भी वह खत्म होगा, बहुत-कुछ टूट-फूट जायेगा, पर अब कुछ बच भी रहेगा। और जो बचेगा वह बचने लायक होगा। सम्भावना-पूर्ण रहेगा। सन '६७ के बाद ही मुझे लगने लगा था कि यदि जल्दी युद्ध न हुआ तो हमारा यह हजारों साल पुरानी जीर्ण शीर्ण सभ्यता का देश सड़ जायेगा। घिनौने कीटाणुओं का भोजन बन जायेगा। काश तुम सन '६७ में रहे होते। तुम्हें यह देखकर हैरत होती कि हर हिन्दुस्तानी कितना बेगैरत और दीन हो गया था। भुखमरी, अकाल, बाढ़ और दूसरी ओर सर्वत्र बुभुक्षित सेक्स का घिनौना, अमानवीय प्रदर्शन। सारा सामाजिक ढांचा कील काँटों से हीन टूटी मशीन की तरह लड़खड़ा रहा था। इंसान की बुद्धि त्रिकोण में फंस गई थी और उसका भूसा शरीर कुत्ते की तरह हवा में टंगा हुआ था। पतन की पराकाष्ठा यह कि लोग इस आत्मघाती, मानवद्रोही प्रेत-जीवन का आधुनिकता के ऊँचे ऊँचे फलसफे में इस कदर लपेटते थे कि इनसे बचकर सही रास्ते पर चलने वाले अपने को

बेवकूफ मानकर बीभत्स चुप्पी में खो गए थे। यों लगता सबको कि हाय-तौबा और गतिमयता का झटका इस बात का सबूत है कि गाड़ी पतन की ओर तेज़ी से लुढक रही है, पर उसमें सवार हर व्यक्ति पतन की तेज रफ्तार का रस ले रहा था उसे रोकना भले ही मुश्किल रहा हो उस पर से कूदकर अलग होना तो सम्भव था ही पर हवा की फरफराहट और जलते शरीर पर उसकी छुवन का मोह 'आत्मघाती चक्कर' से नीचे उतरने भी नहीं देता था। बड़े बड़े शहरों की गलियों में खुलेआम नग्न मैथुन की चर्चा होती बीटनिक्स और हिप्पियों की नकल में शराब गांजा और भांग के प्रयोग चलते। गाली गलौज धुक्का फजीहत, नगई बेशर्मी धीरे धीरे राष्ट्रीय नारा और उद्देश्य बन गई।'

तो क्या आप समझते हैं, युद्ध के कारण वे चीजें बन्द हो गइ?

'मैं जानता हूँ कि बन्द नहीं हुइ। बन्द कैसे होंगी, युद्ध से बड़ा अनैतिक शायद ही दूसरा कोई काम हो। इसलिए भावनाओं के पत्थरीकरण की प्रक्रिया के रुकने का तो सवाल ही नहीं उठता। नोच-खसोट, बेईमानी घूसखोरी ब्लैक मार्केटिंग सब चालू हैं। बल्कि पहले से बढ़ी ही हैं। सेक्स आज भी व्यक्तिगत चीज न रहकर भीड़ की चीज ही है। उसका बाज़ारूपन ज्यों का त्यों है। किन्तु उसमें एक परिवर्तन आया है। उसके साथ अनजाने ही कुछ मूल्य जुड गए हैं। विवशता और सकटजन्य मूल्य। अब ड्रेनपाइप पहनकर सीटी बजाते, अश्लील चेष्टाए करते गाजा शराब, भाँग म धुत पडे नायकों का स्थान लपटों से जूझते सनिको फायरब्रिगेड के आत्मबलिदानी कार्यकर्ताओं रेडक्रास के स्वयसेवको, जान जोखम मे डालकर यातायात को चालू रखने वाले ड्राइवरो, परिस्थितियो के क्रूर पजे से निरतर साहसपूर्ण ढग से लडते नवयुवकों ने ले लिया है। सारा फशन चमक मटक फालतू बहसें और ओछे प्रदर्शन कूल्हे मटकाने वाली अदाएँ हवा हो गई हैं। एक नई सकटजन्य सामाजिकता जन्म ले रहा है। अपने को राष्ट्र के रूप म उबारने की इच्छा ने हिमालय से कन्याकुमारी तक के पूरे देश को एकता के सूत्र म बाँध दिया है। पूरा देश उबल रहा है। सारे देश की रगो म एक ही रक्त प्रवाहित हो रहा है। भारतीय भाषाओं में इतनी निकटता इतना समन्वय और आदान प्रदान शायद ही कभी हुआ हो। आज मद्रास से लेकर कश्मीर तक परस्पर विचार विनिमय बातचीत रोने हँसने प्यार करने और चीखने-कराहने की भाषा हिन्दी हो गई है। न तो इसे ससद ने किसी पर आरोपित किया न ही किसी ने जबरदस्ती थोपा फिर ऐसा करिश्मा कैसे हो गया! कहाँ गई भाषावार प्रान्तीयता हिन्दी साम्राज्यवाद का हौवा—क्या हुइ वे महान विकट समस्याएँ जिन्हे सुलझाने म सरकार पसीने से लथपथ हो जाती थी और तेली के बैल की तरह अटोतल लगाए एक ही परिधि म घूमती रहती थी। समाजद्रोही देशद्रोही तत्त्व जो छिपे थे, नाना प्रकार के जन-कल्याण

वादी नारो की ग्राड म काय कर रहे थे, सामन आ गए। अब ग्रग्नि-लपटो मे स्नान करने वाली जनता को गुमराह नही किया जा सकता। यही है इस युद्ध का ग्रार्डियल (ग्रग्नि स्नान !) ग्रौर यही है इसका रीसरेक्शन (निष्कृति)।'

'तो ग्राप इसी की प्रतीक्षा म थे ?'

'मैं ही नही बटे सामाजिक राजनीति को सही ढग से समझने वाला हर व्यक्ति इसी प्रतीक्षा म था। ग्राज स ४० वप पूव विलियम सरोकिन न भविष्य-वाणी की थी—इन्द्रियबोधपरक यह सस्कृति युद्ध ग्रौर खूनी क्रान्तियो के लिए सर्वाधिक उवर भूमि है। यह बीमार खोखली सस्कृति यदि नष्ट नही हो जाती ग्रौर तकमूलक विचारप्रधान सस्कृति (ग्राइडियाश्नल कलचर) म बदल नही जाती तो बीसवी शताब्दी का उत्तराध भयानक युद्धों ग्रौर नरमेध का इतिहास बन जाएगा। वह सवाधिक खूनी शताब्दी का सर्वाधिक खूनी सकट है। युद्ध क्रान्ति, बिखराव ग्रात्महत्या मानसिक रोग गरीबी, ग्रकाल, इस सकट के लक्षण ग्रौर यही इसके परिणाम हैं। कीटाणुग्रस्त व्यक्तिया के ग्रस्वस्थ मन के इद-गिद केन्द्रित इस सस्कृति का ग्रौर कोई नतीजा हो ही नही सकता। (द क्राइसिस ग्राव ग्रवर एज, पृ० ३२६)

इसस बचने का ग्रौर कोई उपाय नही ?'

"कोई उपाय नही जितना ही ग्रधिक हम ग्रपनी कुछ न सीखने की ज़िद पर ग्रडे रहग ग्रौर जितना ही ग्रधिक हम स्वतन्त्र रूप से ग्रपने को बदलने से कतरायेंगे उतना ही ग्रधिक पीडामय दौर से गुजरना होगा, उतना ही क्रूर ग्रग्नि स्नान का ग्रनुभव होगा, उतनी ही निमम परिवतनकारी शक्ति की चपेट होगी, उतना ही विकट विनाश का नत्य होगा।

'फिर पिताजी यह जानत हुए भी ग्राप परेशान क्या हैं ?

मोह है बेटे मिथ्या मोह—जो ग्रात्मा को शान्त नही रहने दता। 'ग्रणु युद्ध म कुछ न बचेगा की चिन्ता हृदय को मथ डालती है। सामान्य क्षेत्रीय युद्ध जहा हमारे राष्ट्र को जीने की नई शक्ति देगा वही ग्रगर ग्रणु-युद्ध शुरू हुग्रा तो सब-कुछ जलकर खाक हो जायगा। मनुष्य शायद समाप्त हो जायेगा। यह एक ऐसा युद्ध होगा जिसम ग्रच्छा-बुरा ग्रपराधी निरपराध सत्य ग्रसत्य न्याय ग्रन्याय सभी कुछ समानभाव से भस्म हो जायेगा।'

उनका सोचना कितना सही था। ग्राज नई सहस्राब्दी की इस वेला म चतुर्दिक फल ध्वस के बीच इस खन्दक म बैठा मैं उस चेहरे को याद करके सिहर जाता हूँ। रेडियो ग्रब हमेशा के लिए बन्द है। वर्षों से ग्रखबार के दशन नही हुए, पर ग्रचानक पता नहीं क्या शरीर म कँपकँपी होती है ग्रौर मैं विक्षिप्त की तरह ताकता रह जाता हू। मैं इस घडी म विगत सहस्राब्दी की ग्रपनी हिवाकुशा विक्षिप्त पीढ़ी की ग्रोर से श्रद्धाजलि दे रहा हूँ। इति।

कहीं कुछ गड़बड़ है

मैं जानता हूं कि यह सादा मासूम वाक्य है। ऐसे वाक्य हमेशा मासूम होते हैं। चाहे कर्त्ता उक्त हो या अनुक्त चाहे क्रिया सकमक हो या अकमक, वाक्य मासूम होते ही हैं। उन्हें गड़बड़ कहने और सुनने वालों के चित्त को गड़बड़ी बनाया करती है। आज आप कोई सवाल कीजिए—जैसे "कहिए तबियत कैसी है? बगाल के क्या हाल हैं? भारतीयकरण का क्या हुआ? यूनिवर्सिटी मे पढ़ाई कैसी चल रही है? आपकी उस योजना का क्या हाल है? आजकल के फलां फलां अखबार कैसे चल रहे हैं? उस अखबार का क्या मामला है?"—आपको सिर्फ एक उत्तर मिलेगा, बिल्कुल तैयार, थोड़ा लाचार, काफी टटका, बिना झटका कि कहीं कुछ गड़बड़ है।

यह उत्तर सुनते-सुनते आदमी ऊब गया है नेता ऊब गया है अध्यापक ऊब गया है, छात्र ऊब गया है नई पीढ़ी ऊबी है पुरानी पीढ़ी ऊबी है साहित्यकार ऊबा है मगर क्या मजाल कि इस बेइन्तहा ऊब से उबरने के लिए कोई दूसरा वाक्य आपकी सहायता को आए। यानी आज की हर क्रिया की एक ही प्रतिक्रिया है कि कहीं कुछ गड़बड़ है। ऐसे ही मौकों पर पूर्वजों की याद आती है। गाँवों में जाकर लोग राय देते हैं कि चाहे मन को बुरा भी लगे तो क्या, चाहे खुल्लमखुल्ला न भी सही तो कम से कम आपी में बन्द करके ही बरात के वक्त बूटों को जरूर ले जाना चाहिए। ऐसी ही मुश्किल में एक दिन साहित्य की बन्द आंपी में आठे से सील किया हुआ ढक्कन हटाकर मैंने कबीर से पूछा—'कहिए श्रीमान क्या हाल है?' कबीर अपने चर्खे में तल्लीन थे, कुछ देर मौन रहे फिर बोले—

कबीर कहा किए आइके, कहा करेंगे जाइ।
इत के भए न उत के, चाले मूल गँवाइ॥

मैं आश्चर्य से उस बुड्ढे की ओर देखता रहा। उसका चर्खा चलता रहा

ग्रौर वह बिना मेरी ग्रोर देखे ग्रदृश्य सूतो पर ताकता रहा। लोग कहते हैं कि ग्रादमी बडा ऐंठू था, जोश खरोश से भरा था, फक्कड था, मस्तमौला था, जान क्या क्या था, ग्रौर भाँपी भीतर से जो ग्रावाज ग्रा रही थी, वह निहायत पस्त, एवसड, थकी हुई सत्रस्त, कुण्ठित, ग्रौर निर्वासित व्यक्ति का एकालाप प्रतीत होती थी। तो यही है कबीर ? इससे ग्रच्छे तो हमी हैं कि बिना अफसोस के, बिना थके थकाए, निश्चिन्त भाव से कहते हैं—'कही कुछ गडबड है।'

दूसरी भाँपी थोडी छोटी थी, पर ज्यादा माला फूलो स लदी लदाई थी। उसका ढक्कन ग्राटे स नही गोपी चन्दन से सील किया हुग्रा था। भाँपी देखकर ही लगता था कि मुगलकालीन किसी बनाम कलाकार न बडी मेहनत से वह भापी बनाई होगी। ढक्कन खुलते ही भीतर से राम राम की ग्रावाज गूँजने लगी। मेरे मन मे बार-बार विचार उठे कि कहूँ सत्य है, पर उस ग्रादमी का गम्भीर चेहरा देखकर चुप रहा। पूछा "श्रीमान क्या हाल है ?'

ग्रति ग्रनीति कुरीति भई, भुइँ तरनि हू ते ताति।
जाऊँ कहँ, बलि जाऊँ, कहूँ न ठाऊँ, मति ग्रकुलाति ॥

हूँ हू। यहाँ भी वही मति व्याकुलता। यहाँ भी वही रोना। वही दुखडा। ग्रनीति-कुरीति यानी वही एवर्सडिटी, वही सन्त्रास, वही निर्वासन। कही भी जगह नही, कोई दिशा नही, नो एक्जिट, ग्रागे की भाँपिया कौन खोले। दो से ही भर पाए। ये तो बिलकुल दुखात्मक ग्रौर उत्साहहीन नज़र ग्राते हैं। इनसे ग्रच्छे तो हमी हैं। इस प्रसग म ग्रवसर ग्रपने ग्रामनिवासी बाबू भेदूसिह की याद ग्राती है। वह कबीर तुलसी के भोंचक्केपन से भरी निराशा ग्रौर कुण्ठा वाली वत्ति से बिलकुल ग्रलग किस्म क ग्रादमी थे। गाव म बिला वजह थानेदार ग्रा जाए या एक घडी रात गए किसी निस्तब्ध गली स साड दौड पडे या कही से ग्रनजाने दो चार ग्रादमी किसी के दरवाज़े ग्रा जाएँ ग्रथवा किसी ग्रौर गाँव जाते वक्त किसी काम से डाक हरकारा किसी के पास बिलम जाए तो ग्रचानक गाव मे विचित्र किस्म की हौलदिली फैल जाती। उस वक्त हर ग्रादमी एक ग्रबूझ रहस्य सरोवर म ऊभ चूभ की हालत म होता। पर क्या रुतबा था बाबू भेदूसिह का कि एसे मरहल पेश ग्राने पर बिना किसी स कुछ कहे सुने लोग सीध उनके पास उपस्थित होते।

सारी बातें सुनकर बाबू भेदूसिह एक क्षण गम्भीर बने रहते। उनका चेहरा चिन्तन की प्रक्रिया म षटकोण बन जाता ग्रौर फिर वह बडे इत्मीनान से सब लोगा की ग्रोर कनखी से देखते हुए मुसकराकर कहत—'कही कुछ गडबड है।'

गाँव म उनके इस वाक्य का ऐसा प्रभाव था कि इसे सुनते ही सब लोग वहाँ से उठकर धीरे धारे ग्रपने ग्रपने घरो को चल देते, जसे रहस्य पर पडा

पूरा पर्दा ही आँखों के सामने खुल गया हो। अब कोई जिज्ञासा नहीं रही।

एक बार भेदूसिंह के लड़के जोखू से उनकी कहा-सुनी हो गई। लड़के ने शायद धक्का धुक्की भी कर दी। कहने वाले तो यहाँ तक कहते हैं कि काफी पिटाई हो गई। गाँव में खबर फैली। लोग सदा की भाँति बिना किसी से कुछ कहे सुने बाबू भेदूसिंह के दरवाजे पर हाज़िर हुए।

वह इस बार भी एक क्षण गम्भीर बने रहे। फिर उसी तरह मुसकराते हुए बोले— कहीं कुछ गड़बड़ है। जोखू तो कभी भी ऐसा नहीं था।

मैं छुट्टियों में गाँव पहुँचा। मुझे भी पूरा वृत्तान्त कई-कई संस्करणों में सुनने को मिला। जोखू से एक दिन मैंने पूछ लिया। वह भी अपने पिता का योग्य पुत्र ही था। तपाक से बोला—"कहीं कुछ गड़बड़ है भैया, बाबू तो कभी भी ऐसे नहीं थे। किसी ने उनके कान भर रखे हैं।'

मैं सोचता हूँ कि यह स्वतन्त्र भारत की पहली महत्त्वपूर्ण घटना है जो मेरे अदन से गाँव में घटित हुई जिसमें कारण और समस्या जो भी रही हो उत्तर एक ही था यानी पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी एकमत। अर्थात कहीं कुछ गड़बड़ है, इस बात पर पूर्ण राष्ट्रीय मतैक्य है।

ऐसे मौकों पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण बड़ा ही दयनीय तत्त्व बन जाता है। मैं कबीर और तुलसी को सोचता हूँ भेदूसिंह और जोखू को सोचता हूँ तो परेशानी होती है। कौन सत्यद्रष्टा है, कौन स्वप्नद्रष्टा ? पितकुस्त के दिन पतरस ने भाषण दिया था—'तुम्हारे नवयुवक दिव्य दर्शन पाएँगे और तुम्हारे वृद्धजन स्वप्नद्रष्टा होंगे। (न्यू टेस्टामेन्ट २।१२।१७)। लगता है कि वह वचन हिन्दुस्तान की पुरानी और नई पीढ़ी के सामने एकदम यथार्थ में बदल गए हैं। यदि पुरानी पीढ़ी स्वप्नद्रष्टा है तो नई पीढ़ी भी दिव्य दर्शनों से इतनी जुड़ी है कि वह कब कौन सा सुविधाजनक नारा लेकर चल पड़ेगी कहना मुश्किल है। और मजेदार बात यह कि इन नारों में से मासूम वाक्यों को हटा दीजिए सिर्फ उद्देश्य पर ध्यान दीजिए तो आपको लगेगा कि आक्रोश जैसा भी हो दोनों नारों के अर्थ में पूर्ण मतैक्य है। मैं बार बार सोचता हूँ कि इस गड़बड़ शब्द में कौन सी शक्ति है कि सारा देश कुम्भक साध इसी पर आसन लगाए विराजमान है। आखिर यह है क्या चीज ? आपने गड्डमड्ड शब्द जरूर सुना होगा। गड्ड मानी होता है भेड़। संस्कृत में गड्डरिका या गड्डलिका इसी देशी गड्ड की अभिजात सन्तानें हैं। इसी से हिन्दी का गड़ेरिया निकला। मड्ड है मद यानी धँसान। गड्डमड्ड है भेड़िया धँसान। मुझे बार बार लगता है कि गड़बड़ इसी बिरादरी का शब्द है। भेड़ इसकी शक्ति है यही इसकी मातृका है यही बीजमन्त्र है जिसकी अपार शक्ति पर सारा देश टिका हुआ है। कहीं कुछ गड़बड़ है एक के पीछे एक चलते जाना। इन भेड़ों को दिशा

देने वाला गडेरिया पता नही कब आएगा। पगम्बरो को इस देश मे दिलचस्पी नही रही शायद।

मैं यह सब निश्चय ही दुरुस्त होश हवास की हालत मे नही कह रहा हूँ। आपने ठीक ही समझा कि कही कुछ गडबड है। न तो मैं चोटी का पण्डित हूँ, न ही टोपी वाला नेता। मैंने देशोद्धार का कोई बीडा भी नही उठाया है कि उसके लिए झूठ बोलने का रोजगार करूँ। मैं धर्म की ध्वजा उठाए चलने वाला धुरीण भी नही हूँ कि अधर्म का लिबास पहनकर दुनिया को धोखा देता फिरू। मैं तो सिर्फ 'गोडो के इन्तजार' म बैठा तथाकथित हिन्दुस्तानी बौद्धिक मात्र हूँ जिसे दूसरे दिन यह भी भूल जाता है कि कल किस पेड म फासी लटकाकर झूलने का इरादा किया था। समुएल बैकेट के 'मर्फी' उपन्यास के नायक की तरह आरामकुर्सी पर बैठा मैं सिर्फ दिमाग का खाली करने की कसरत करता हूँ ताकि एक दिव्य आनन्द की अनुभूति की जा सके। यह बात अलग है कि इसी बीच कही कुर्सी के नीचे बिछे गैस-पाइप का विस्फोट हो सकता है और मर्फी के नायक की ही तरह सारा कुछ राख की ढेरी म बदल कर ऐबे थियेटर के पेशाबखाने पर छितरा सकता है। और फिर उसकी भी चिन्ता क्या। चाहे आप आरामकुर्सी पर बैठे हो, या गद्दे पर चाहे टाट पर बैठे हो या ठाट पर सारा हिन्दुस्तान 'गैस पाइप' पर टिका हुआ है। कब क्या होगा, कहना मुश्किल है। बीस बरसो से सभी को लगता है कि कही कुछ गडबड है मगर आज तक किसी ने यह तकलीफ गवारा नही की कि स्वय से पूछे कि क्या गडबड है क्यो गडबड है।

कोई जानकर सचेत भाव से दुख स्वीकार करना क्यों चाहेगा। 'कही कुछ गडबड है' कहकर अपने दनन्दिन क्रियाकलाप मे खो जाने म जो आनन्द है, उसे छोडना हर व्यावहारिक व्यक्ति के लिए मूर्खता होगी। और मूर्ख होना या बनना कोई पसन्द नही करता। भाफियो मे वन्द वे तमाम लोग जो सचमुच म बुद्धिमान थे, बौद्धिक थे, कवि थे, कितने दुखी हैं कितने परेशान हैं। हो सकता है कि वे हमारी तरह के व्यावहारिक बुद्धिमान न रहे हो क्योकि अक्सर ऐसे लोग जो किसी सस्कृति की जीवन धरोहर होते हैं अपने समय के नितान्त अव्यावहारिक व्यक्ति होते हैं। उनके समय के लोग उन्हें बुद्धू भी मानते हैं। ऐसे ही लोगो का कहना है कि बौद्धिक प्रौढता हमेशा दुखात्मक होती है। बुद्धि स 'मेय्यार' होने का अर्थ ही ट्रेजिक होना है। गाधी महात्मा कहा करते थ कि— जनता के लिए मूलभूत महत्त्व की वस्तुएँ केवल तर्क द्वारा नही प्राप्त होती। विरोधी को बदलने के लिए और विवेक की आवाज के लिए उसके कान खोलने के लिए जगल के कानून की अपेक्षा दुख सहन कही अधिक सक्षम है। तर्क का प्रभाव मस्तिष्क पर अधिक पडता है पर हृदय

से प्रकट दुःख द्वारा ही होता है। वह मनुष्य के आन्तरिक कोष को प्रकट करता है। तलवार नहीं, दुःख-सहन ही भारत जाति का चिह्न है। (यंग इण्डिया ४ नवम्बर, १९३१)। कबीर दुखी है, तुलसी दुखी है, गांधी दुखी है, बुद्ध तो दुःख के प्रतीक ही थे। जो रहे हम न रहे। हम भारत दुखी होने का महाभिनिष्क्रमण क्यों करें? गांधी का हाथ छिन्न गया है पाकिस्तान! जिन्ना रहे तो गांधी मार दी गई। मगर हम तो तस्वीरें जवान और बूढ़ियों छोड़कर के अखिलता का विस्तार करो। ऐसे लोगों की बातें सुनकर प्रभावाकुल बैठे-ठाले भारत में पढ़ना किसकी बड़ी मूर्खता है।

मैं शास्त्रों का ज्ञान नष्ट कर दूंगा और चतुर व्यक्तियों का चातुर्य व्यर्थ प्रमाणित करूंगा। क्या परमेश्वर ने नहीं दिखा दिया कि संसार का ज्ञान मूर्खता है। ईसाई सन्त पौलुस इस शास्त्र-वचन का प्रमाण देते हैं। दूसरी ओर वह और भी अधिक स्पष्टतापूर्वक कह गए कहता है—तुम तो विद्वान होने के कारण सहज मूर्खों का व्यवहार सहन करते हो। यदि कोई तुम्हें दासता में जकड़े, तुम्हारी धन-सम्पत्ति खा जाए, तुमको ठगे, ज्योतिष करे या तुम्हारे मुँह पर थप्पड़ मारे तो तुम उसके प्रति सहिष्णु बने हो। मैं लज्जापूर्वक स्वीकार करता हूँ कि मुझ में ऐसा करने की शक्ति नहीं है। इसलिए तुम मुझे यदि मूर्ख समझते हो तो थोड़ी गर्वोक्ति करने दो।

भारतियों में बहुत से सभी लोग इसी प्रकार की उलटवांसी बोलते हैं। वे गर्वोक्ति भी करते हैं, अपनी मूर्खता का इजहार भी, वे दुःख सहन भी करते हैं—मगर सत्य को व्यवहार करने में कभी आलस्य का अनुभव नहीं करते।

और हम हैं कि इन सारी बातों को सुनने से इन्कार करते हुए अपनी विद्वत्ता में पागल हैं। दार्शनिक मुद्रा में मुट्ठियाँ बाँधे सामने की दीवार में लटकती पूँछ को देख रहे हैं। और निरन्तर सोच रहे हैं कि यदि इतने छोटे से छेद से होकर गाय दीवार पार कर गई तो उसकी पूँछ क्या फँसी है। हम सिर्फ इस विकट समस्या से ही परेशान नहीं होते बड़े आहिस्ते से उस पूछ को पकड़कर आसुदगी का अनुभव करते हुए बड़बड़ाते भी हैं—'कहीं कुछ गड़बड़ है।'

मैं बताए देता हूं आपको कि क्या गड़बड़ है। आप जो पूंछ पकड़े हैं वह जिन्दा गाय की नहीं है, वह मर चुकी है। इसे पकड़े पकड़े आप वतरणी पार करने का इरादा रखते हों तो इस से विरत हूजिए। श्रीमान्, अब जिन्दा गायें वतरणी पार नहीं कराती वे अब राजनीति में हैं। मुर्दा गाय की पूंछ ज्यादा खतरनाक होती है क्योंकि वे बखूबी आपको दुमछल्ला बना लेती हैं और आप उसी में चक्करघिन्नी खेलते रहते हैं।

लीजिए मैं चुप हो गया। गुस्सा थूक दीजिए। मगर वह पहली झांपी का

दवक्त अपने आप क्या ऊपर की ओर उठ रहा है।

"तुमसे एक बात कहन के लिए।

हा, हाँ श्रीमान्, कह डालिए। देर स ही सही, आपने चर्खे से हाथ तो अलग किया। अब कह जाइए, जो कहना हो। और वह बूढ़ा उसी भापी स बोलता है —

कबीर इस ससार कूँ समझाऊँ क बार।
पूछ तो पकड भेड की उतरया चाहै पार॥

बूढा वसत और मैं

१ अप्रैल १६६४

आज अप्रल की पहली तारीख है। पहली अप्रैल—मूख दिवस ! और आज मैं परेशान हू। मैं ? यानी मैं जो अपनी मूखता सहज ढग से स्वीकार कर लेने को कभी तयार नही होता। मूखता का भी एक चक्र होता है। वष-चक्र की तरह। निमिष पल घटिका याम दिवस, मास वष—यानी छोटी इकाई और उनके बीच का गुणात्मक सम्बध। पुन उनका एक चक्र, वत्त यानी प्रत्येक मूखता एक दूसरी को ही नही, अपने से भिन्न अनेक को जम देती है—और फिर जमजात मूखताए शिशुकाल म ही आधान धारण कर नये शिशुओ की माँ बनने का उपक्रम करती हैं।

एक माँ जो अपनी युवती लडकी के सामने किसी भी युवक प्रश्नकर्ता से अपनी उम्र बताते समय सख्याओ को हमेशा पीछे ठेल देती थी उस दिन बहुत दु खी हो गई जब लडकी ने खीझ से हाथ झटकारते हुए कहा— माँ कम-से-कम अपनी और मेरी उम्र मे नौ महीने का अतर तो रखा ही करो।'

पर यहाँ तो शिशु मूखताओ को समय की ऐसी गडबडी भी कभी खटकी नही क्योकि मूखता जाति का यह 'बायलाजिकल सत्य है कि हर मूखता जम लेते ही अनेक शिशुओ के प्रसव की योग्यता रखती है।

हाँ तो आज पहली अप्रल है और मैं परेशान हूँ। मैं यानी मेरे भीतर का एक अजनबी जिसे आसानी से समझने के लिए बहुरूपिया भी कहा जा सकता है। कभी वह सीधा-सादा ग्रामीण है निश्छल सहज और बेवकूफ जिसे नगर की सभ्यता अपनी रगीनी और अजब चाकचिक्य स लुभाती है तो अक्सर अपनी भयानक गति कान के परदा को रेतने वाली आवाजा और बदरग भीड की वृद्धि मानिया स इतना परेशान कर देती है कि बिस्तरे पर लटने क बाद जागते जागते भी झोंपडों और खपरला की छाजन क भीतर स उठा हुआ कडुवा धुवा शीतल

कोहरे की तरह आखो के सामने छा जाता है—एकदम भिनसारे अगहन के निथराये जल म स्नान करके सफेद धुली साडियाँ पहन औरतो की एक पात तालाब की ओर गात हुए जा रही है—

खयर सुपारिया लदलि मोरि नइया
कि हम धनि उतरब पाऽऽर
एकहक बिरवा मैं सबके रे देबों
हरि जी के देबो क खोइछा भार
मैं बनिजारिन राम की।

खर सुपारियो से लदी हुई नावें। कहाँ से आ रही हैं ये नावें ! ठीक वर्षा के बाद नदिया के उद्वेग के उतरते ही ये नावें शायद किसी सुदूर यात्रा से लौट रही हैं। आज धनि अपनी विरह-नदी के पार उतर जायगी। और हा, बाकी नाविको को तो वह पान का सिर्फ एक एक बीडा ही देगी, लेकिन अपने हरि को ? उनके सामने तो पान भरा आँचल ही उलट देगी।

पर अब वे नावें कहा हैं ? उनकी स्मृति म बच गए हैं बाँस के झपोलो मे लटके दीपक जो पता नही किस भूले नाविक को अपने मद्धिम प्रकाश का दान देकर राह दिखा रहे हैं—विस्मृति के आकाशदीप ! और नये धानो की बनी वह पीडिया जो किसी दूर दश आए नाविको को प्रेम के साथ बाटी नही जाती, मिट्टी की हाँडिया मे ब द करके पानी म बहा दी जाती हैं।

'तुम बिलकुल गावदी हो मेरे भीतर का यह नया मैं फुफकार उठता है। आचलिकता ? वही पुरानी बहाव वत्ति यानी वहतुपना। याद करो लीविस-ममफोर्ड को। लोकगीता मे खोकर आत्मरेचन करने की प्रवत्ति क्या है ? क्या है ? यह एन्टी हिस्टारिक एण्ड ऐन्टी आरगनिक। किन्तु मैं इस इतिहास विरोधी और विकास विरोधी क्यो मान लू ? सिर्फ इसलिए कि तुम्हारे लीविस और ममफोर्ड ने यह फतवा दे दिया ?' 'नही इसलिए नही कि किसी ने एसा कह दिया, बल्कि इसलिए कि यह खुद म एक पलायन है जो हमे आधुनिक मूल्यो की तीखी व्याख्या के उत्तरदायित्व से बरी करता है। माफ करना मैं फिर एक उद्धरण दे रहा हूँ मारजारी किनन रोलिंग्स का— रीजिनलिज्म इज डेंजरस टु ए शाप एपरीसियेशन ऑव वैलूज (मूल्यो की तीखी विवेचना के लिए प्रादेशिकता खतरनाक होती है) "अच्छा, अच्छा मान लिया कि यह सब पलायन है, तो होगा। तत किम।' मेरे भीतर का यह नया मैं' इस तरह मधुर-मधुर मुसकराता है जसे वह बहुत महान हो। उसे यह खयाल भी है शायद कि डाँट डपट इतनी ही ठीक होती है, जो नटखट लडके को किताब फेंक देने के लिए विवश न करे। वह पुचकारकर कहता है— बुरा मान गए प्यिर मैं नो भई, तुम्हारी मदद करना चाहता था ! तुम्हारे दुख और भोग मे सामो-

दार बनना चाहता था । अब देखो न, समस्या कुछ और है परेशानी का कारण कुछ दूसरा है मगर तुम वहीं और किसी बाँसुरी की मूर्छना से बेसुध होकर ईहामृग की तरह भटकने के लिए विवश कर दिये गए हो। ऐसी ही होती है यह मादकता इन लोकगीतों की, जो दुःख की सही व्याख्या में लगे मस्तिष्क को 'ट्रक्वलाइजर' या नींद की दवा देकर बेहोश कर देती है। है न ?

प्रश्न कुछ दूसरा है। शायद यह कि आज पहली अप्रैल है और तुम परेशान हो। प्रयत्न यह होना चाहिए कि तुम पूछो अपनी समूची शक्ति से, जागरूकता के साथ समूचे अंतर्मन को झकझोर देने वाली निर्मम आवाज में पूछो कि तुम परेशान क्यों हो ?"

प्रश्न यह नहीं है कि मुझे एक प्रश्न पूछना है। प्रश्न यह है कि मुझे यह प्रश्न किससे पूछना है।'

मेरा 'नया' मैं एक क्षण चुप रहता है। वह शायद सोच में पड़ जाता है। एक क्षण के लिए वह कृतविद्य ग्लानि से गम्भीर हो जाता है, वह जानता है कि सवाल टेढ़ा है। आज हर कोई प्रश्न पूछने को तैयार है। हर मनुष्य कुछ पूछना चाहता है। मगर प्रश्न है कि वह किससे पूछे। एक क्षण तक सन्नाटा रहता है। मेरे दोनों 'मैं' एक दूसरे के प्रति इतने सहानुभूतिपूर्ण हो उठते हैं कि एक दूसरे से लिपटकर एकाकार हो जाते हैं। मुझे लगता है कि मैं यद्यपि परेशान अब भी हूँ पर थोड़ी हरारत कम हो गई है। मैं अपने में तदाकार 'मैं' की खुशी के लिए लोकगीत भले न गाऊँ पर एक क्षण के लिए मुझे 'मूल्यों' की बात न उठाने की भी जैसे स्वतन्त्रता मिल गई हो।

लेकिन तुम दोनों ही बेवकूफ हो' यह मेरी आत्मा के भीतर एक तीसरा 'मैं' बोलता है। बुद्धिमान, समझदार, व्यावहारिक मैं जो शहरी है, नागरिक है। सभी तरह के व्यावहारिक ज्ञान से दीक्षित है। जो राजनीति से बाजार से यानी यथार्थ जीवन की सभी बारीकियों से खूब परिचित है।

प्रश्न के भीतर ही सबोध्य का रूप छिपा होता है। तुम प्रश्न बताओ। मैं बताऊँगा कि यह सवाल तुम्हें किससे करना चाहिए।

मेरे दोनों एकाकार मैं उसकी ओर आश्चर्य से देखते हैं। दोनों उसकी अभद्र वाचालता पर खीझे हुए झल्ला पड़ते हैं— 'प्रश्न है कि मैं परेशान क्यों हूँ।'

तीसरा 'मैं' निःसंकोच ताली पीटकर खिलखिलाता है।—'इसलिए कि आज पहली अप्रैल है और तुम मूर्ख हो ' तुम खाना खा चुके हो। मुँह में मगही पान के दो बीड़े भी हैं और सुगंधित जर्दा भी। आनन्द से टाँग पसारकर चारपाई पर लेट जाओ। दिन भर इधर उधर दौड़ते रहे हो। ड्यूटी कर आये अब आराम करो। पड़े पड़े नींद नहीं आती तो कोई चटपटा उपन्यास उठा

लो। उससे भी काम नहीं बनता तो पत्नी से छेड़ छाड़ करो। यदि वह तैयार हो जाती है तो परेशानियों का कृत्रिम आँधी और तूफान के भकारे में टूट-टूटकर उड़ जाने दो और यदि नहीं तो पर हाथ धोकर नींद बुलाने की कोशिश करो कुछ-न कुछ आराम मिल ही जायेगा—'

मैं इस नये 'मैं' की ओर विकृत चेहरा बनाकर देखता हूँ। बगलोल कहीं के। मैं विरक्ति और घृणा से होंठों को विदोर विदोरकर कहता हूँ—'यदि ऐसा ही होता तो मैं भी एक सफल इंसान हो गया होता। न सही ऊंचा पद, निचले दर्जे के लिए दो चार कोर्स बुक्स लिखकर ठाट से रकम चीर सकता था। न सही यह भी चार सौ रुपये ही क्या कम हैं।—प्रोफेसर हूँ, दो चार आदमी जानते मानते हैं—गये—कक्षाओं में बकबका कर चले आये। लड़के-बच्चों से बातचीत की। तानकर सो रहे—क्या मजे से जिन्दगी कट जाती है। है कि नहीं! बहुत बुद्धिमानी सूझी तो यहाँ-वहाँ दरबारों में यदा-कदा हाजिरी दे दी। मौका देखकर इसकी उसकी शिकायत झाड़ दी।'

ओह! सो यू आर आलसो एन इन्टेलीजेन्ट मैन।

श्री क' दाँत निपोरकर हँसे, मन भी दाँत निपोरकर अपनी बुद्धिमानी स्वीकार कर ली— यस सर, आई एम आलसो इन्टेलीजेन्ट मैन लाइक यू वाह वाह! क्या बात है, जरा लाला जी साहब के लिए एक कप चाय।' 'तो आपको पान खाने की आदत है? —मैं जानता हूँ कि श्री क पान नहीं खाते इसी से बहुत मीठा बोल लेते हैं। मैं अपने अपराध को छिपाने के लिए यों हँसता हूँ गोया मैंने कोई बहुत सुन्दर मजाक कर दिया है—'जी नहीं, आदत वादत तो क्या बस, बनारस है न—सो कभी कभी खा लेता हूँ। — श्री क' खुश हो जाते हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि घरेलू कामों का हर्ज करके नौकर को पान लाने भेजने की मुश्किल से छुटकारा मिल गया। वह भी खुश! मैं भी खुश!! सभी खुश!!! कितनी अच्छी जिन्दगी है यह—कोई परेशानी नहीं कोई फिक्र नहीं।

पर मैं मूर्ख हूँ। यह सब कुछ करके लौटने पर अपनी इस आनन्ददायक उल्लासमय स्थिति से सन्तुष्ट नहीं हो पाता। कोई कसक है जो कलेजे के भीतर टीसती है। कोई जीवन्त स्नायु भीतर में कहीं कट जाता है और फिर लाल लाल खून इधर उधर सब कहीं फलकर थक्के का थक्के जम जाता है।

मुझे लगता है कि सामने के पीपल की ललछौंही छाया बहुत बहुत जुगुप्सा से भरी हुई है। लेकिन फिर मुझे उन मुलायम मुलायम मेहन्दी लगी चिकनी हथेलियों की तरह, खूबसूरत पत्तियों पर बड़ी दया आ जाती है। मैं उन्हें बड़ी ललचायी-ललचायी नजर से देखता हूँ। मेरे सामने जैसे असंख्य हथेलियाँ फैली हुई हैं। जैसे हर एक थरथराती कांपती कह रही हो मुझे थाम लो!

पनपी, मुझे कुछ नहीं मालूम ।"

"साब को भाड म फेंको मिस्टर!" मैं भल्लाकर उस 'मैं' के बच्चे का कालर पकडकर झकझोरता हू । गुस्से के मारे मेरा सारा वदन थरथरा उठता है— मैं परेशान हू, और तुम्हें मजाक सूझना है। साब का दास मैं नही हूँ तुम हो। तुम जो समझ लेत हो दुनिया म एक व्यक्ति की परेशानी या हैरानी का कोई अर्थ नही। यह तुम्हारे साब ने कहा है न कि मनुष्य के प्रत्येक कम दरावर महत्त्व के हैं, चाहे वह अकेले बैठकर शराब पीना हो, चाहे किसी राष्ट्र का नेतत्व करना?"

माफ!

—तभी मुझे लगता है कि मैं परशान तब से हूँ जब से मैंने आज का अखबार पढा है।

मैं आज का अखबार मेज से उठा लेता हूँ और प्रमुख खबरो को एक क्रम से नोट कर लेता हूँ

(१) शेख अब्दुल्ला रिहा किये जायेंगे । कश्मीर के प्रधान मत्री की घोषणा।

(२) कम्युनिस्ट पार्टी के सेक्रेटेरियट ने वामपक्षीय गुट को अनुशासन भग करने पर कठिन दण्ड दने का निश्चय किया है।

(३) सर्वोच्च न्यायालय ने देश की सभी असेम्बलिया, न्यायालयो न्यायिक सगठनो को सूचना दी है कि व उत्तरप्रदेश की न्याय और विधान पालिकाओ के बीच सघष स उत्पन्न स्थिति पर विचार होत समय अपने प्रतिनिधि भेज सकते हैं।

(४) पाच हजार गृहस्थिनो का महगाई के विरोध म दिल्ली म प्रदशन।

क्या इन चार खबरो के पढने म मुझे परेशानी हुई? मैं इस पूरे प्रश्न की तह मे जाने के लिए क्या न इन खबरो को पूरी तरह बिखेरकर सामने रखू। क्यों न इनके सभी पहलुओ को एक-एक प्रश्न की तरह उछालकर अपने मन के उन सभी मैं रूपो से पूछू कि तुम इन पर अलग अलग या इकट्ठा क्या सोचत हो।



अब्दुल्ला की रिहाई से मेरे एक मैं को खुशी है। यह मैं शायद मनुष्य की महानता म सामान्य से अधिक विश्वास रखता है। इस मैं को लगता है कि *अब्दुल्ला शायद नियति क हाथ का एक महान शस्त्र है।* अब नियति अपने 'कॉस्मिक वत्त' को पूरा करके नया चक्र लेना चाहती है।

---

१ Nausea Newyork New Directions 1949

हिन्दू मुसलमानों के दंगों पर क्या कुछ कम लिखा गया है। 'पेशावर एक्सप्रेस', 'हम वहशी हैं,' और 'इंसान मर गया,' 'शरणार्थी' आदि रचनाएँ इतिहास के अंगारक पृष्ठों के कितने जलते साक्ष्य आज तक वैसे ही सजाए हुए हैं। मनुष्य की वहशत को धिक्कारकर हम खुद चुप हो गए। पर वह वहशत अभी खत्म नहीं हुई। भीड़ का दूसरा नाम ही शायद वहशत है। यह भीड़ हमेशा भीड़ रही है और रहेगी। कीर्कगार्द ने इस भीड़ के लिए कहा था कि यह 'भीड़ कोई भी भीड़ चाहे वह आज के ज़िन्दा लोगों की भीड़ हो या प्राचीन मृत मरे लोगों की भीड़ हो, चाहे वह कमज़ोर और अभागे लोगों की भीड़ हो, चाहे जबरदस्त और शक्तिशाली लोगों की भीड़ हो, गरीबों की हो या अमीरों की हो,—एक भीड़ अपने असली अर्थ में हमेशा ही झूठी रही है क्योंकि वह हमेशा ही एक व्यक्ति को बेईमान और गैरज़िम्मेदार बनाती है या कम-से-कम उसे एक नाचीज़ वस्तु बनाकर उसके ज़िम्मेदारी के बोध को निबल करती है।'[1] यह भीड़ ही है जो नीच-से-नीच और जघन्य से जघन्य काम करके भी कभी पश्चात्ताप का अनुभव नहीं करती। यह भीड़ हमेशा ही समाजद्रोही मानवता द्रोही व्यक्तियों को पनाह देती है। यह भीड़, जिसके कोई हाथ और पैर नहीं होते घृणित कामों को लाखों लाख उधार माँगे हुए, या भाड़े पर खरीदे हुए हाथों और पैरों से पूरा करती है।

भीड़ के जिस तरह हाथ और पैर नहीं होते उसी तरह उसके सिर भी नहीं होते। यह कितनी भयानक बात है पर इससे भी अधिक भयानक यह है कि यदि भीड़ चाहे भी तो हाथ-पैर की तरह सिर उधार या किराये पर नहीं पा सकती। सो यह भीड़ हमेशा ही सिरहीन सहस्रबाहु के समान निरीह मासूम सारे व्यक्तियों को बलात पशु की तरह खींचकर उनके सभी मानवीय और ममतालु स्नेह सूत्रों से तोड़कर कटीले बाड़ों या चहारदीवारियों के भीतर फेंक देती है।

और जब इस सिरहीन भीड़ को पागल बनाने वाली मदिरा या कोई नशा पिलाकर उन्मत्त कर दिया जाए तो क्या कहना। तब तो इसके खूनी पंजे से गरीब, सामान्य और मामूली व्यक्ति की रक्षा कर पाना असम्भव ही हो जाएगा।

भीड़ को जो शराबें सबसे अधिक प्रमत्त और मतवाला बनाती रही हैं उनमें धर्म शायद सबसे अधिक पुरानी और तीखी वस्तु है। तमाशा यह है कि जो लोग इसका नाम लेकर भीड़ को तरह-तरह के अमानुषिक कार्यों के लिए उकसाते हैं वे शायद ही इसका सही अर्थ समझते हों, अथवा इसके बनाए हुए

---

१ द प्वाइंट आव व्यू अनु० वाल्टर लारी आक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

किसी रास्ते पर नियमपूर्वक चलकर अपनी आन्तरिक शक्तियों के विकास या कम-से-कम मानसिक शान्ति के लिए ही प्रयत्न करते हों।

देश विभाजन के पहले धर्म की शराब ने हमें कितना प्रमत्त किया और कैसे कैसे भयानक दृश्य उपस्थित कराए, इसे दुहराने की जरूरत नहीं है। किन्तु विभाजन के बाद सोलह सत्रह वर्षों के अनन्तर पुनः इसी प्रकार का धार्मिक उन्माद पूरे उपमहाद्वीप की शान्ति को भंग कर रहा है यह अवश्य ही प्रत्येक जिम्मेदार व्यक्ति की चिन्ता और परेशानी की बात हो सकती है। एक ऐसा भू-खण्ड जो धर्मों के समन्वय पर आधारित और विकसित हुआ है, जिसमें एक साथ ही मानवीय प्रकृति के विविध पुष्पों की केसर-क्यारियाँ लहराती रही हैं। इसमें नगर-सभ्यता के आरम्भकर्ता द्रविड़ों का ज्ञान दम्भोगमय सुर्गधित द्रव्य सिक्त जीवन है तो आखेटक आर्यों का उन्मुक्त उल्लास भरा उषस गान। परवर्ती आर्यों की बहुदेववादी वनेचर संस्कृति तो है ही, उपनिषदों की 'परमसत्य' में अन्वेषण-तत्पर बुद्धिवादिता भी। एक ओर राजन्य-जीवन को आदर्श बनाकर बहने वाली पौराणिक ईश्वर-पूजा की समन्वयधर्मा भागीरथी है तो दूसरी ओर निर्वाणोन्मुख श्रमण संस्कृति की गरिक्ता भी। कहीं मूर्तिभंजक धर्मोन्माद की आक्रामक सभ्यता है, तो ठीक उसके नीचे 'प्रेम की पीर' में डूबे सूफियों की 'पारस रूप' में आसक्त उदारतावादी फकीरी भी। इसमें कबीर हैं, नानक हैं। इसमें ख्वाजा निजामुद्दीन हैं, खुसरो हैं, तानसेन और बीरबल हैं, मुगल चित्रकला है ताज है चाँदबीबी है टीपू सुल्तान है।

मुझे सज्जाद जहीर का वह निबन्ध याद है ताज के बारे में जिसमें लेखक ने बड़ी गम्भीरता से पूछा है कि 'यदि ताज इसलामी संस्कृति की देन है तो यह उन देशों में जहाँ इस संस्कृति की नींव भारत से कहीं अधिक पुरानी और मजबूत है, क्यों नहीं बना? क्यों नहीं ईरान ईराक अरब देशों या अफगानिस्तान में ताज का निर्माण सम्भव हो सका?'

और तब लेखक निस्संकोच उत्तर देता है 'भारत में ताज इसलिए बना कि इन्हीं कारीगरों के पूर्वजों ने अजन्ता और एलोरा बनाया था।'

यह एक उदार सांस्कृतिक प्रेम है। मानवतावादी महान दृष्टिकोण जिसकी सदा की जाग्रत दीप शिखा बड़े में बड़े तूफान में भी कभी काँपी नहीं कभी बुझी नहीं। इसी दृष्टिकोण की आन्तरिक प्रेरणा शेख अब्दुल्ला की रिहाई पर एक बुजुर्ग दार्शनिक को यह कहने के लिए बाध्य करती है "शेख अब्दुल्ला को छोड़ने का निर्णय एक आस्था का कार्य है।" हमारे राष्ट्रपति इसे एक विश्वास और आस्था का कार्य मानते हैं।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि शायद अब्दुल्ला नियति के हाथ का एक साधन है जिसके माध्यम से घृणा, सन्देह पाशविकता के वातावरण की समाप्ति हो सकती

है। 'कास्मिक वृत्त' नय युग म प्रवेश कर सकता है, जहाँ हर एक व्यक्ति अपने उदार मानवोचित काय को 'एक्ट आव फेथ' मानकर आत्मिक सताप का अनुभव कर सकता है।

"यह एक्ट आव फेथ (विश्वास का काय) स्वय म एक प्रबल सन्देह का सूचक है।' मरा तीसरा 'मैं' प्रचारक बोल पडता है। 'जब अपने उचित और महज काय को आदमी आदर्शात्मक मूल्यो मे जोडता है तो उसके मन म अपने काय के परिणाम के प्रति सन्देह अवश्य होता है।'

मान लीजिए एक व्यक्ति किसी कारणवश आपसे शत्रुता करता है, वह आप पर छिपकर छुरा मारने का प्रयत्न करता है और पकडा जाता है। इस पूरे मामले को पुलिस मे न देकर जब आप यह कहते हैं—"जाओ भाई मैंने तुम्ह छोड दिया। तुम्हें जरूर कहीं-न-कहीं भ्रम है। मैं तुम्हारा शत्रु नही हू। इसीलिए इस मामले को आगे न बढाकर मैं यहीं खत्म करता हू और तुम्ह यह मौका देता हूँ कि तुम भविष्य मे इस तरह का नीच काम नही करोगे।" तो आपका यह 'एक्ट आव फेथ' निस्सन्देह एक उदार मानवोचित काय है, यह एक ऊँचा आदश है। किन्तु जब आप स्वस्थ चित्त स अपने इस 'एक्ट आव फेथ' का विश्लेषण करते हैं तो क्या मिलता है ?

तब आप एक द्विविधा और सन्देह म जकडे हुए दिखाई पडते हैं। आपको लगता है कि उसे छोडकर आपन बहुत अच्छा नही किया। वह फिर वसा ही कर सकता है। किन्तु उसी क्षण आप यह भी सोचते हैं कि हो सकता है वह सचमुच भ्रम म रहा हो। और फिर यदि वह इस पर तुला ही है तब तो पुलिस म केस देने स बात और बढती ही। छूटकर वह एक-न-एक दिन फिर आता और तब आप बिलकुल घबरा जाते हैं। क्योकि अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए यह घटना, जिस प्रकार की सावधानी और अनवरत चौकन्नेपन की माँग करती है वह स्वय मे एक बहुत बडी परेशानी है और उस दौर से निरन्तर गुजरना बहुत स्वस्थ स्थिति का सूचक नही है। इसीलिए आपका उसे मुक्त करना यानी एक्ट आव फेथ कई-कई अथ रख सकता है।

'मतलब यह कि आप समझते हैं कि हमारी सरकार ने घबराकर, अस्वस्थ स्थिति क कारण शेख अब्दुल्ला को रिहा करने का निश्चय किया है।

'बिलकुल—मेरा तीसरा मैं इस ढग से तमतमाता जा रहा था जैसे सामने की टेबुल पर हाथ पटककर कोई वक्ता अपने उद्वेग की अभिव्यक्ति करता है— 'आप क्या समझते हैं कि अब्दुल्ला कश्मीर पर भारत का अधिकार मान लेगा ? आप समझते हैं कि वह पाकिस्तान को विवश करेगा कि वह अपने मुसलमान नागरिको को हिंदुस्तान म अवध घुस-पठ रोक ? क्या आप समझते हैं कि अब्दुल्ला के रिहा कर दिए जान स पाकिस्तान क असहाय गरीब निर्दोष हिंदुओं

का वध रुक जाएगा ? क्या आप समझते हैं कि अब्दुल्ला की रिहाई से जेहाद के गगनचुम्बी नारे शान्त हो जाएँगे ? क्या आप समझते हैं कि अब पाकिस्तान म हिन्दुओ को जलील नही किया जाएगा, उनकी अस्मत और इज्जत के साथ खिलवाड़ नही होगा ? क्या आप मानते हैं कि एक व्यक्ति की रिहाई हजारो हजार अबोध बच्चो के कत्ल को रोक लगी ? क्या आप यह मानते है कि अब पाकिस्तान म हिन्दू महिलाओ क साथ बलात्कार नही होगा आगजनी रुक जाएगी ? आप यदि ऐसा मानत हैं तो आप या तो वीतराग योगी हैं या निहायत निकृष्ट कोटि के बुद्धिहीन प्राणी हैं।

'क्या, क्या तुम मानत हो कि मुसलमान जाति केवल पाशविक अत्याचारो क स्तूप का ही नाम है ?" मैं अपन इस सूनी श्रुद्ध 'मैं' क सामने घुटने टक देना मनुष्यता की हार मानता हूँ। 'यानी तुम 'Manicheanism' म विश्वास करने वाल अतिवादी हो। तुम शाश्वत शत्रानियनवाद' म आस्था रखते हो। तुम्ह इसम जरा भी स देह नही होता कि पाकिस्तान म होने वाले य काय मुट्ठी भर बरगलाय हुए, विभ्रमित समाजद्रोही लोगो स कराए जाते है ?'

'नही इसम मुझे जरा भी स देह नही होता।' मेरा यह तीसरा मैं मेरी बातो को बीच म ही काटकर उबल पडता है— पाकिस्तान की हरकतो को न समझने का नाटक कांग्रेसी शासक कर सकते हैं जिन्ह उनके वोट के बल पर गद्दी पाने का लाभ है। उन्हें ही यह नही दीखता होगा कि पाकिस्तान पूरे भारतवष को एक मुसलमानी उपनिवेश मे बदल देना चाहता है। हमारे शासक भल ही इन हथकण्डो को न समझें या समझकर चुप रह जाएँ लेकिन हम सब समझते हैं। पाकिस्तान एक ओर उस क्षेत्र को, जो उसके अधीन है हिन्दुओ ईसाइयो को निकालकर पूरी तरह मजहबी राज्य म बदल रहा है। वहा वे सभी साधन और तरीके मुहइया करगा जहा आक्रामक इस्लाम फूले फले। इधर भारत मे पाच करोड मुसलमानो के रूप मे उसका सेकेण्ड फ्रण्ट तैयार है जो शत्रु के घर म शत्रु की मूखता के कारण निरन्तर सशक्त होता रहेगा और समय आने पर जब पाकिस्तान बाहर से हमला करेगा ये भीतर से तोड फोड की कार वाइयाँ करक उसकी सहायता करेंगे। पाकिस्तान की अतिरिक्त आबादी को प्रेरित करक सुशिक्षित करक एक निश्चित अभिप्राय से सीमान्त प्रदेशों मे झोक दिया जा रहा है ताकि वे सीमा पर निरन्तर अशान्ति और गडबडी पैदा करें और इस प्रकार पाकिस्तानी आक्रमण के समय इन प्रदशो पर कब्जा करने के लिए आवश्यक अवसर और स्थिति उत्पन्न हो जाए। क्या हम यह सब नही समझ रह हैं ?'

मतलब कि हिन्दू सभ्यता और सस्कृति खतरे म है ?' मैं व्यग्य से पूछता है।

'बिल्कुल। हिंदू सभ्यता और संस्कृति का कोई नाम लवा पानी देवा भी नहीं है। हिंदुस्तान में एक स्थान पर साम्प्रदायिक दंगा हो जाए तो सभी मुस्लिम देश, चाहे वे उदार हों या कठोर प्रगतिशील हों या पुराणपंथी एक स्वर से इसके लिए विरोध करेंगे। उनका विरोध जबानी जमा-खर्च नहीं है, इसे हम जानते हैं, इसलिए हम अपना यह आवश्यक कार्य मानते हैं कि किसी विशिष्ट मुस्लिम अतिथि को अपनी इस्लाम प्रियता का सबूत भी दें ताकि वह कह सके कि 'मुझे प्रसन्नता है कि भारत में पाँच करोड़ मुसलमानों को जीवन-यापन के सभी साधन और अवसर प्राप्त हैं तथा उन्हें अपने धर्मानुकूल आचार-व्यवहार के लिए पूरी आजादी मिली है।

पर पाकिस्तान में हिंदुओं के साथ जो कुछ भी होता है उस पर कौन विरोध करे। भारत तो धर्मनिरपेक्ष राज्य है। ले-देकर एक नेपाल है जो अपने को हिंदू राज्य कहता है लेकिन वह क्यों भारत और पाकिस्तान के झगड़ों में नाहक फँसकर परेशानी उठाए।

यह तीसरा मैं अपनी बातें कुछ इस भाव और वेग के साथ कह रहा है कि सहसा मुझे कोई उत्तर नहीं सूझा। मेरा आंचलिक ग्रामीण मैं उसकी बातों के जोर और आँखों की चमक से अभिभूत-सा हो गया। उसे लगता है कि जो कुछ यह कह रहा है वह एकदम से झूठ नहीं है। मन में सन्देह की काई अब भी घनी है कि हर मुसलमान शैतान का रूपान्तर नहीं होता, पर अपनी सभ्यता और संस्कृति की निरुपायता जैसे निरीह गाय की तरह अपनी ओर निरन्तर खींच रही हो। एक मुसलमान लड़की हिंदू परिवार में या हिंदू लड़की मुसलमान परिवार में हमेशा ही कुशल गृहिणी साबित हुई है। उनसे उत्पन्न बच्चे शुद्ध मुसलमान से किसी मामले में कम सुन्दर या बुद्धिमान नहीं होते, पर यह सोचकर कि पाकिस्तान में अनेक हिंदू लड़कियाँ को बलात घरों में डाल लिया गया है बुरा लगता है। लगता है जैसे एक व्यक्ति भीड़ के अत्याचारों से पीड़ित जीवित ट्रेजेडी बन गया है। एक लड़की अपरिचित वातावरण में अपमान, असहायता और ग्लानि की मूर्ति बनी विरोधी परिस्थितियों से जूझ रही होगी। हारकर टूट रही होगी और अस्तित्व के सामने खिंचे अनेक प्रश्नचिह्नों का उत्तर माँग के खून से चित्रित कर रही होगी।

How morbid it is कभी भावुकतापूर्ण प्रबोध ग्लानि है। मेरा दूसरा मैं इस पूरे गमगीन वातावरण को अपने एकान्त ठहाकों से तार-तार करते हुए मुसकराकर बोला—'यह एक सच्ची और जीवन्त मुक्ति है पर यह है इतिहास की 'मुक्ति'। पाकिस्तान और हिन्दुस्तान में क्या कुछ हो रहा है इसे एक तरफ रखकर जरा गहराई के साथ सोचिए कि आपकी आत्मा में इन खबरों को सुनकर इतना दर्द, ऐसी पीड़ा, ऐसी मुक्ति क्या है? आपने न तो खबरों की प्रमाणिकता

का पता लगाया, न तो अपनी आँख से आपने दंगों के वीभत्स रूप ही देखे, फिर ऐसी जीवन्त पीडा आपके चित्त में क्या उत्पन्न हुई ? क्या इसलिए कि आप हिन्दू धर्म या संस्कृति से प्रेम रखते हैं ? क्या इसलिए कि आप मनुष्य को दुःखी नहीं देखना चाहते ? किसलिए ?"

वह इसलिए कि आपका अन्तर्मन इतिहास की कृत्रिम खोल से ढका हुआ एक ऐसा पदार्थ है जो बड़ी आसानी से कुछ मूल्यों, कुछ सत्यों और कुछ धारणाओं का शिकार हो सकता है। ये मूल्य, ये सत्य, ये प्रतीतियाँ आपके अन्तर्मन में कई सौ वर्षों की लगातार कोशिश से बैठाई गई हैं। ये धीरे धीरे आपके जीवित मन का हिस्सा होती जा रही हैं। पहले इस ऐतिहासिक खोल को आप उस तरह ढोते थे जैसे कछुआ अपनी मोटी और कड़ी खोल को ढोता है। यह खोल, हो सकता है आपकी रक्षा करने में सहायक हुई हो, किन्तु यह खोल धीरे धीरे चमड़े के भीतर प्रविष्ट हो रही है इतना ही नहीं यह एक अद्भुत रासायनिक प्रक्रिया से आपके व्यक्तित्व का अंग बनती जा रही है और याद रखिए कि मरे इतिहास की खोल जब जीवित व्यक्ति के भीतर प्रविष्ट होकर उसका खून, मांस और मज्जा बनने लगती है तो उस व्यक्ति के भीतर तरह-तरह के असामान्य तत्त्वों का उदय होता है और ये तत्त्व न सिर्फ उस व्यक्ति को अशान्त, पागल या प्रमत्त बना देते हैं बल्कि धीरे धीरे जीवन को आमूल ऐसा बदल देते हैं कि उसके मनुष्य कहे जाने में भी सन्देह उत्पन्न हो जाता है

इस खोल को तोड़ने के लिए बहुत दिनों से प्रयत्न किए जा रहे हैं। इसे तोड़ने के लिए खुसरो और तानसेन ने उन रागिनियों की सृष्टि की जो पत्थर को पानी में बदल देती थीं। पर क्या आपने सुना नहीं कि हमारे बीच ऐसे अनेक इन्सान हैं जिन्हें रविशंकर का सितार-वादन सुनकर कानों में दर्द का अनुभव होने लगता है। इस खोल को तोड़ने के लिए कबीर और जायसी ने प्रेम का वह रूप हमारे सामने उपस्थित किया जिसके स्पर्श से—

होतहि दरस परस भा लोना
धरती गगन भयउ मनो सोना

किन्तु आपको शायद यह मालूम होगा कि कबीर और जायसी को असाहित्यिक या साहित्येतर कहने वालों की संख्या भी कम नहीं है। और जायसी के बारे में अक्सर कहा जाता है कि वह मौलवी और मुल्लाओं से ज्यादा खतरनाक था, क्योंकि उसने एक हिन्दू प्रेम की कहानी लेकर इस्लामी सिद्धान्तों का प्रचार किया था। किन्तु मुझे सन्देह है कि जो लोग ऐसे मूल्यों में विश्वास रखते हैं वे कभी उपनिषद् की भी प्रशंसा कर सकते हैं अथवा पुरुरवा उर्वशी या 'कादम्बरी' की प्रेमकथा को आत्मविभोर होकर पढ़ सकते हैं।

इस खोल को तोड़ने के लिए मध्य काल तथा वर्तमान काल में भी अनेक

हिन्दू और मुसलमानो ने अपनी आहुति देकर जी-तोड प्रयत्न किया, किन्तु यह खोल न टूटी। कभी ऐसा लगता था कि यह पतली अवश्य होती जा रही है, पर सचमुच यह पतली नही हुई, चिकनी हो गई थी।

आप कहेगे कि उस खोल को तोडने का उपदेश सिर्फ हिन्दुओ को ही क्यो दिया जाता है ?

अव्वल तो यह उपदेश नही है मानवता की मामूली और अत्यन्त आवश्यक एक शर्त मात्र है, दूसरे यह प्रश्न ऊपर से खोल तोडने के औचित्य को स्वीकार करता सा प्रतीत होने पर भी उसे मजबूत बनाने वाला प्रश्न ही है, क्योकि इसमे हिन्दू और मुसलमानो को दो भिन्न किस्म के मूल्यो मे बँटी हुई जाति मान लिया गया है। बात आज सिर्फ मनुष्यता की ही होनी चाहिए, क्योकि जातिगत मूल्यो की धारणा भी मरे हुए इतिहास की ही देन है। यह कितने दुख की बात है कि हम जिन्दगी के हज़ारो दूसरे कामो मे इस जातिगत मूल्य को बडी आसानी से नजरअन्दाज कर सकते हैं किन्तु जिन्दगी के सबसे अहम मसले यानी मानवता से सम्बद्ध मसले के सदर्भ म हमेशा ही यह जातिगत मूल्य आडे होकर खडा हो जाता है। बहुत सुन्दर बाल काटने वाला अशरफ हज्जाम एक व्यक्ति है मुझे उसके परिश्रम या कौशल से जो सन्तोष या सुख मिलता है उसमे उसका जातिगत मूल्य कभी भी बाधक नही लगता। सुलेमान दरजी न सिर्फ मेरी कमीजें बल्कि पत्नी की ब्लाउजें और बाडिसें सीता है और हम दोनो यह जानते हुए कि वह मुसलमान है, उसकी तारीफ करते हैं। कची सुई, खिलौने टीन के छोटे छोटे खूबसूरत बरतन किसी भी मुसलमान बिसाती से खरीदते वक्त हिन्दू बच्चे खुशी के मारे पागल हो जाते है। मुसलमान लडकी से प्रेम करने म जो सुख है वह किसी और लडकी से कम नही होता यही नही मुसलमान वेश्याओ से शादी-त्योहारो पर जिस कदर की रगीन बातें धार्मिक पडित और बाबू साहब किया करते हैं बस तो सामान्य हिन्दू शायद ही कर पाता हो।—मुझे याद है मेरे एक मित्र ने जब यह सुना कि नर्गिस ने एक हिन्दू से विवाह कर लिया है तो बडे खुश हुए। पर जब उन्ह बातचीत म यह पता चला कि नर्गिस के पिता हिन्दू थे तो थोडा उदास हो गए।—यानी हिन्दू मुसलमान की पारस्परिक घणा कितने कमजोर कन्धो पर आधारित है!

लेकिन जब दगे शुरू होते हैं इतिहास की विशाल खोल अपने घेरे मे अनेक व्यक्तियो को समेटकर भीड की शक्ल अख्तियार कर लेती है तो हम बडी आसानी से किसी हज्जाम किसी दरजी किसी बिसाती किसी कुजडे किसी खूबसूरत मुसलमान लडकी किसी रगीन मुसलमान वेश्या की हत्या कर बठते हैं। एक व्यक्तिगत रूप से परिचित गरीब स गरीब मुसलमान क सामने खडा होकर कोई व्यक्ति मार नही पाता क्योकि उसकी आँखों की इन्सानियत सामने वाले व्यक्ति

की इसानियत से इस कन्र जुडी है कि कोई उसक बधन को तोड नही सकता, किन्तु जब वही व्यक्ति भीड मे गामिल हो जाता है वह इस कदर मशीनी और भावशून्य हो जाता है कि उसे कुछ भी कर बैठने म किसी प्रकार की ग्लानि नही होती।

अत यह सिद्ध हुआ कि सहज अस्तित्व और जीवन का जहा तक सबध है, हिन्दू और मुसलमान मूल्य कभी भी एक दूसरे के विरोधी नही माने जाते। विरोध सिफ कृत्रिम रूप से वहाँ उत्पन्न होता है जब ये मूल्य व्यक्तिगत मूल्यो के स्थान से च्युत होकर उस भीड के मूल्य बन जाते हैं जिसे ऐतिहासिक धम के ऊपरी रूप स पुजारी या मौलवी अथवा स्वाथ के लिए प्रेरित करने वाले राजनीतिक पाशविक धरातल पर उत्तेजित कर देते हैं।

'हिन्दू स्वभाव से ही कमजोर होता है,' एक मित्र कह रहे थे, 'वह दूसरा का खून कर ही नही सकता। ऐसा कायर कौम कब तक जी सकेगी?'

किन्तु मुझे लगता है कि आत्मा से कायर तो वह है जो भीड म छिपकर, भीड की उत्तेजना से प्रेरित होकर किसी व्यक्ति की हत्या करता है।

इतिहास की खोल इसीलिए स्वभावत भीड का गुण और धम है। इसने हम जो मानव मूल्य दिए हैं वे कभी भी व्यक्ति मूल्य बन नही पाते। यह मूल्य हमेशा ही व्यक्ति मूल्यो की हत्या करता रहा है। व्यक्ति स्वातन्त्र्य की हत्या। अपने मूल्यो को तो वह हत्या करता ही है। वह खुद मे एक सकुचित, ईर्ष्यालु भयभीत प्राणी होता है जो इस बात पर धीरे धीरे विश्वास करने लगता है कि वह एक महत् काय कर रहा है जबकि सत्य यह है कि सभी प्रकार की मानवीय विशिष्टताओ से वचित होकर इतिहास की ऊपरी खोल मात्र बन जाता है जो खुद दूसरे के विकास और सुधार म तो विश्वास खो ही बैठता है अपने विकास और सुधार के दरवाजे भी बन्द कर देता है। मुसलमान कभी भी नेक इन्सान नही बन सकता यह मान लेना इस बात का प्रमाण है कि हम इन्सानियत के विकास और सुन्दर भविष्य म किसी भी प्रकार का विश्वास नही रखते। और जो व्यक्ति इस मान्यता के पीछे दीवाना होकर असामान्य जीवन व्यतीत करता है वह निश्चय ही प्रेतात्मा का जीवन व्यतीत करता होता है इसम सदेह नही।[1] और आप यदि जैसा मानते हैं कि हिन्दू-सस्कृति बहुत महान् है, तो क्या वह भीड के, उत्तेजित भीड के, पाशविक धम को ही अपना गन्तव्य मानेगी? इतिहास प्रदत्त खोल से भिन्न सहज मानवता की अग्रिम यात्रा ही इस सस्कृति को सही अर्थों म समद्ध और जीने योग्य बनाएगी, इसमे सन्देह नही होना चाहिए।

'लेकिन मेरे दोस्त, इतिहास हीन होना कोई गव की बात नही है, तीसरा

---

१ सात्र, पोर्टेट आव एन एटिसेमेटिक।

'मैं व्यंग्य से मुह को विद्रूप बनाकर बोला "टु बि अनहिस्टारिकल इज प्रोमेथियन सिन, अनतिहासिक होना प्रोमेथियन पाप है।

हो सकता है कि यह पाप हो किन्तु विवशता है क्योंकि आधुनिक व्यक्ति इस तरह के पाप में जीने के लिए अभिशप्त है।'[1]

किन्तु अब्दुल्ला!

हाँ किन्तु

अफसोस है तो सिर्फ यह कि मनुष्य के मन के विचारों का अन्तर्द्वन्द्व और उस मंथन से उत्पन्न फेन समुच्चय इस प्रकार का सत्य नहीं है जैसा कि पहली अप्रैल था, कि पीपल की लाल लाल पत्तियाँ।

प्रश्न अब भी ज्यों का त्यों है। और मुझे लगता है कि मेरी सारी परेशानी की जड़ में यह खबर नहीं है कि अब्दुल्ला रिहा किए जा रहे हैं। हो रहे हैं रिहा तो हों। मुझसे मतलब। फिर मेरी परेशानी का कारण क्या हो सकता है?



जब कभी सन्नाटा इतना घना हो जाय कि वह सहज लक्ष्य हो सके, पत्ते इस कदर खामोश हो जायें कि वातावरण में होने वाला अन्दरूनी परिवर्तन साकार हो सके, आकाश के तारे ऐसे जड़ हो जाएँ कि टिमटिमाना बन्द कर दें, मानो हमारे और उनके बीच वाली दो सौ मील चौड़ी हवा की दबाव पेटिका अचानक हट गई तो मुझे लगता है कि कहीं न कहीं किसी मनुष्य के साथ उसके साथियों ने विश्वासघात किया है।

उस दिन अचानक हिलते पीपल के ललछौंह पत्ते जब एकाएक स्तब्ध हो गए तो मुझे एक दमघोंट परेशानी ने बुरी तरह अपने पंजों में दबोच लिया।

अखबारों में खबर छपी है कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के अध्यक्ष श्री डांगे ने आज से चालीस वर्ष पहले अंग्रेजी सरकार को कुछ पत्र लिखे थे। तब डांगे जेल में थे और उन्होंने उन दमघोंट चहारदीवारियों के भीतर से विदेशी शासकों को लिखा था कि यदि उन्हें मुक्त कर दिया जाय और उन पर से अपराधों के मिथ्या आरोप हटा लिए जायँ तो वे सरकार के साथ सहयोग करने के लिए तैयार हैं। चालीस वर्ष पहले लिखे हुए पत्र अचानक १९६४ की पहली अप्रैल को एक ऐतिहासिक घटना बन गए और इन पत्रों के आधार पर डांगे के साथियों ने उन्हें गद्दार और देशद्रोही मान लिया। डांगे कल तक कम्युनिस्ट पार्टी के कर्णधार थे। भयंकर से भयंकर तूफान में भी पार्टी की नाव को सकुशल किनारे की ओर सावधानी से खेते जा रहे थे कल तक वे मजदूरों के हितों की रक्षा करने वाले निःस्वार्थ और साहसी नेता थे कल तक उन्हें पार्टी के सभी संकटपूर्ण खतरों

---

१ युग माडर्न मन इन सर्च आव ए सोल।

में, उसकी मर्यादा और अस्तित्व की रक्षा करने वाला योग्य और कुशल नेता माना जाता था और आज डांगे एक ऐसा व्यक्ति है जिसके चरित्र में लोगों को सन्देह है, जिसकी चालीस वर्ष की सेवायें, खुद में एक प्रश्नचिह्न बनकर खड़ी हो गई हैं। उनका सम्पूर्ण साहस, धैर्य, व्यक्तित्व को निरन्तर बलिदान करने की इच्छुक कर्त्तव्यपरायणता—सभी एक नये शंकालु अर्थों से जुड़ गए हैं, उन अर्थों से जो व्यक्ति के पिछले सभी कार्यों को स्लेट पर लिखी इबारत की तरह मिटा कर उसकी जगह एक ऐसा कार्टून बना देते हैं जिसमें सिर को कमर के नीचे और पैरों को गर्दन के ऊपर चिपका दिया जाता है।

मुझे डांगे के इस रूप को देखकर परेशानी होती है। मुझे लगता है कोई चीख चीखकर चिल्ला पड़ा है कि पीपल की लाल लाल पत्तियाँ मनुष्य के खून की खाद ले-पीकर इतनी सुर्ख दिखाई पड़ती हैं।

मुझे अचम्भा इस बात का है कि एक आदमी के चालीस साल के काम, भारी भरकम महत्त्वपूर्ण, ईमानदारी से भरे हुए जोखम से टकराते हुए काम एकदम से उपेक्षणीय और नाचीज़ कैसे हो गए। डांगे यदि वाकई एक सन्देहपूर्ण चरित्र का नाम है तो वह चालीस साल तक धरती आँखों के सामने से अनदेखा कैसे गुज़र गया।

यह क्या मानस विकार का ही एक रूप नहीं है? सामने से पहाड़ की तरह लम्बा चौड़ा हाथी गुज़र जाए और हमें सन्देह हो कि क्या वह सचमुच हाथी था? और तब सहसा हमारी बौद्धिक चेतना एकदम से प्रबुद्ध हो उठे और हम रास्ते पर उभरे गोल गोल चिह्न को देखकर चिल्लाएँ—अरे वह हाथी था, वह हाथी था।

यथा गजो नेति समक्षरूपे
तस्मिन्नपक्रामति संशयः स्यात्।
पदानि दृष्ट्वा तु भवेत् प्रतीति
स्तथाविधो मे मनसो विकारः ॥ शाकुन्तल ७।३१ ॥

पर जब हमने देखा नहीं, ठीक से अपने दुष्ट अनुभव को प्रमाणित नहीं किया तो हम गोल गोल चिह्नों को देखकर कैसे कह सकते हैं कि वह हाथी ही था।

इससे दो प्रकार के निष्कर्ष अपने आप निकलते हैं।

(१) विश्वसनीय साक्ष्य पर आश्रित निष्कर्ष के द्वारा किसी वस्तु के मिथ्या ज्ञान से सत्य ज्ञान में होने वाला परिवर्तन। (२) कुछ विषयों में हमारी निजी अभिरुचि जो मृत वस्तुओं को भी कल्पना के आधार पर जीवित और साकार कर सकती है। हाथी सचमुच गया और हमने देखा नहीं अब उसके पदचिह्नों से हमने प्रमाणित किया कि वह हाथी था, पहले प्रकार का निष्कर्ष है यानी मिथ्या ज्ञान से सत्य ज्ञान की प्रतीति। किन्तु किसी भी गोल चिह्न को जो हाथी

के पैरो से मिलता जुलता हो देखकर अपनी इच्छा और रुचि को सतुष्ट करने के लिए मान लेना कि ये पदचिह्न हाथी के ही हैं और बहुकुछ दर पहले ही इधर से गया है—यह दूसरे प्रकार का निष्कर्ष है जो न्यस्त अभिप्राय वाले व्यक्तियो की प्रवत्ति के अनुकूल पडता है।

ये दोनों ही 'मानस विकार' हैं। इन दोनों ही अनुमानो म से किसी का भी आधार लेने वाला प्राणी अस्वस्थ ही कहा जाएगा। डॉगे इनम किस अनुमान के शिकार हुए हैं, यह कहना तो अभी सभव नही है, किन्तु शिकार हुए हैं यह सत्य है।

'यू आर टॉकिग लिटरेचर?' मेरा तीसरा 'मैं' उपहास के स्वर म बोला—डॉगे अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के दोनो गुटो के सघष के शिकार हुए हैं, या होने जा रहे हैं, वे किसी प्रकार के मिथ्या या सत्य अनुमान के शिकार नही हुए हैं। यह कालधौत राजनीति ही है जो हर किसी को समयानुसार नाना रगो म परम्परा विरोधी रगो म रँगकर हमेशा साफ बनी रह जाती है। डॉगे या कोई भी अ ब स इस राजनीति के सामने अवश हो ही जाता है। अब तक प्रजातत्रो के ही नील, श्वेत हरे रग होते थ आज साम्यवाद के भी लाल, बादामी नारगी, गुलाबी आदि भेद होने लगे हैं। और एक रग की विभिन्न छायाएँ चित्रकारो के सामने भले ही अवचेतन की अदेखी गहराइयो या स्वप्नो की विविध वर्ण सयोजना को साकार करके उल्लास का कारण बनें, समाज और व्यक्ति को तो ये रग हमेशा ही विचारो के आवत म डालकर छलावा का शिकार बनाते हैं।

हमारे देश मे राजनीतिक वसन्त का क्या कहना? कौन रग कब किससे सधि करके किन अवचेतनीय गहराइयो को छूने लगेगा कहना मुश्किल है। हरे और लाल का समन्वय मुझे तो हमेशा ही बदरग सा लगता है। लगता है अचानक किसी ने यमुना की लहरो मे रक्त टक्स से भरे हुए रावणीय घडे उलट दिए हैं।

हरा लाल झडा अन्तर्राष्ट्रीय जगत म भी नई इन्सानियत का प्रतीक बन कर इधर उधर फहराने लगा है। पाकिस्तान और चीन की परस्पर मित्रता इस नये ध्वज को कधे पर टागे हुए विश्वविजय का नया मसूबा बाँध रही है। कभी-कभी इन दोनो की दोस्ती पर हसी आती है। हाय रे मयूर न्याल पुच्छ से जुडे, पर सहसा यह हसी स्याही सि धु म डुबकियाँ लगा लेती है और फिर बच रहती है एक अजीब किस्म की घणा जो न तो भीतर जज्ब हो पाती है और न ही बाहर व्यक्त हो पाती है।

मेरे एक मित्र ने एक वक्तव्य म कहा था कि जिन साहित्यकारो के सामने 'कम्युनिज्म' या 'फासिज्म' का कोई अर्थ नही होता उनके लिए साहित्य का क्या अर्थ हो सकता है यह मेरी समझ म नही आता। उन्होने इन दोनो को

दी अतिवादी ध्रुवों पर आरूढ़ मूल्य मानकर साहित्य के लिए इधर या उधर का मार्ग प्रशस्त कर दिया था। लेकिन क्या 'फासिस्ट कम्युनिज़्म' नाम की या 'कम्युनिस्टिक फासिज़्म' नाम की कोई वस्तु सचमुच नहीं होती ? न होती अंततः प्रवृत्तिमूलक ही सही तो हरे लाल रंगों का यह अद्भुत मिश्रण कहाँ से दिखाई पड़ता ?

खोखले नारे। रिक्त शब्द ! !

किन्तु नारे खोखले हों या शब्द रिक्त। भीड़ को ये हमेशा ही वरगलाने की शक्ति रखते हैं और हवाई फ़ायर के रूप में छूटकर भी धीरे धीरे एक शक्ल अख्तियार कर ही लेते हैं और भीड़जीवी खोखले लोगों की आत्मा को मनचाहे रंगों में रँगकर अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेते हैं।

"चीनियों का मित्र चुनने का तरीक़ा बड़ा अजीब और विस्मयकारी है।' मिखाइल सुसलोव चाहे इस तरीक़े को जो भी विशेषण दें, यह तरीक़ा है और एक ज़ोरदार कीमियागिरी है जो अनमिल रंगों को एक में मिलाकर एक ऐसा नया पेण्ट तैयार कर रही है जो न केवल भारत जैसे 'मँझधारवादी' देश के *लिए बल्कि रूस जैसे 'कगारवादी' देश के लिए भी खासी सिरदर्द का कारण* होता जा रहा है।

यह पेण्ट जिन लोगों के चेहरे पर पोत दिया जाता है, वे न सिर्फ अजीब शक्ल अख्तियार कर लेते हैं बल्कि उनकी चाल-ढाल, बातचीत रहन-सहन बिल्कुल बदली-बदली सी नज़र आने लगती है। डांगे ने अनेक बार इस रँगसाज़ी का विरोध किया, जब-जब उनके साथ इस रंग से होली खेलने की कोशिश हुई उन्होंने चेहरा झटक लिया। आखिर हारकर होली के खिलदड़ों ने एक स्वर में हुल्लड़ मचा दिया कि डांगे असभ्य हैं। उन्हें होली खेलने का शऊर तक नहीं।

डांगे में होली के प्रति ऐसी उदासीनता आई कहाँ से ? खोज बीन शुरू हुई और पता लगा कि उन्होंने एक दफा एक अंग्रेज़ डॉक्टर से कहा था कि हरे-लाल पेण्ट से मुझे हमेशा 'एलर्जी' होती है। किरासन का तेल लगाकर खूब साफ करने से ही यह कम्बख्त छूट पाता है, और मुझसे इस तेल की बदबू सही नहीं जाती।

बस इतनी-सी बात है और आप अपनी साहित्यिक वहाववृत्ति के चक्कर में पड़कर तिल का ताड़ बनाए जा रहे हैं।

मेरा यह तीसरा 'मैं' इस तरह हाथ झटककर बात कर रहा है जैसे नाक पर बैठी मक्खी उड़ा रहा हो। 'जाने कहाँ से आपको हाथी और उनके परों के गोल-गोल निशान याद पड़ गए, रूसी सकस तो नहीं देखा आपने इधर ?'

'तुम दोनों ही मूर्ख हो', यह मिस्टर मसने थे जो अब तक हमारी बातों को यों सुने जा रहे थे जैसे प्रेम का कोई दिलचस्प क़िस्सा हो। किन्तु जब उन्हें

इसका कोई खूबसूरत अन्त न दिखाई पड़ा तो विराम जगा ऐसा बनाकर धीरे धीरे एक एक शब्द पर जोर देकर कहने लगे आप लोगों को मैं एक कविता की तीन चार पंक्तियाँ सुनाना चाहता हूँ। आप दोनों को खास तौर से, क्योंकि आपको यह बहुत बड़ी गलतफहमी है कि इज्म यानी मत की खोज कर लेने के बाद भी इन्सान के लिए कुछ करना बाकी बच सा रहता है।'

मतलब —मेरे दोनों मैं एक साथ बोल पड़ते हैं।

मतलब यह कि राजनीतिक पार्टियाँ किसी न किसी महान सिद्धान्त पर ही तो आश्रित होती हैं। परेशानी इस या उस महान सिद्धान्त को चुनने में हो सकती है। महान सिद्धान्त मिल गया, इज्म का सूर्य जगमगा उठा बस अब परेशानी कहाँ रही। इसलिए हमको, आपको यानी सबको ये पंक्तियाँ बतौर दोस्ताना सीख के याद रखनी चाहिए।

फ्राम दि डाकनेस आउटसाइड एण्ड विदिन
बाई ड्रीमिंग दि सिस्टम्स सो पर्फेक्ट
दट नो वन विल नीड टु बि गुड।

—टी० एस० इलियट दि राक

हमारे राजनीतिज्ञों को महान स्वत मे हर प्रकार से मुकम्मल सिद्धान्त और वाद मिल गए है इसलिए इनका सपना देखना ही काफी है यह कतई जरूरी नही है कि कोई अब अच्छा इन्सान बनने की कोशिश भी करे। 'शायद अब आपको लग रहा होगा' यह 'मैं' मेरी ओर मुखातिब होकर वसे ही सहज मुसकराहट के साथ कह रहा था कि आपकी परेशानी का कारण यह कतई नहीं था कि डागे पर उनके साथियो ने गलत या सही आरोप लगाए अथवा कम्यूनिस्ट पार्टी के सेक्रेटेरियट ने अनुशासन भंग के लिए वामपक्षीय लोगों को डराया धमकाया है कि नहीं। क्योंकि पार्टी का मतलब ही होता है एक विशिष्ट सत्य की प्राप्ति। इसलिए पार्टी संबधी कार्यों का निर्माण उस वायवी निरपेक्ष सत्य के आधार पर ही होना चाहिए अच्छे बुरे के सापेक्ष विशेषणो के आधार पर नहीं। और अच्छे बुरे के सापेक्ष विशेषण हमेशा ही व्यक्ति पर लादे जाते है।

'हूँ मगर

●

मगर शायद मेरी परेशानी का कारण तब कहीं और हो। मुझे लगता है कि आप फिर पीपल की पत्तियों की बात करेंगे और बड़ी मायूसी के साथ उन अबोध पत्तियों से पूछेंगे कि बताओ तो जरा मेरी परेशानी का कारण क्या है? मेरा तीसरा मैं इस कदर वमुखातिब होकर बात करेगा इसका मुझे जरा भी आभास न था। वह उसी अन्दाज मे कहता गया—सच तो यह है कि आपकी

परेशानी का कारण आपके ही भीतर है और आप उसे घर घर जाकर पूछते घूम रहे हैं—

सो साईं तन में बस भ्रम्यो न जाणे तास।
कस्तूरी के मृग ज्यू, फिरि फिरि सूंघे घास॥

वह खिलखिलाकर हँसता है। अब भला सोचिए कि उत्तर प्रदेश की न्यायपालिका और विधानपालिका में यदि अपने अपने अधिकार के प्रश्न को लेकर संघर्ष है, तो इससे आपसे मतलब ? आप सारी दुनिया के अन्देशे से दुबले क्यों होने लगे साहब। और फिर आप अपने को साहित्यकार कहते हैं। साहित्यकार को राजनीति या वैधानिक प्रश्नों से क्या लेना-देना। उसे तो समाज को 'सत्य शिव सुन्दर' की ओर अग्रसर कराने के लिए शब्द साधना करनी चाहिए। जीवन को पूरी संवेदना के साथ इस ढंग से चित्रित करना चाहिए कि वह अपनी सभी अच्छाइयों बुराइयों के साथ हमारे मन में जीने की इच्छा पैदा कर सके। आपसे भला इन बाहरी प्रश्नों का क्या संबंध ? राजनीति के चक्कर में फँसे कि जो कुछ थोड़ी बहुत प्रतिभा व्रतिभा होगी वह भी इधर उधर फम फुसकर चिथड़ जाएगी। 'तो आप यह समझते हैं कि साहित्यकार का इन प्रश्नों से कोई संबंध नहीं होना चाहिए जो मनुष्य के अस्तित्व को गहराई से प्रभावित करने वाले या उन्हें अवरुद्ध करने वाले हों ?' क्या आप यह मानते हैं कि उत्तरप्रदेश के मामलों ने मनुष्य के अस्तित्व के सामने ऐसे प्रश्न खड़े कर दिए हैं जिनसे वह अवरुद्ध हो जाए ' मेरा तीसरा मैं उसी अविश्वस्त हँसी के साथ कह जा रहा है— यदि विधान सभा और न्यायपालिका में अपने अपने अधिकार सीमा को लेकर कोई खिंच आ गई तो इसमें मनुष्य के अस्तित्व का क्या संबंध ?'

मैं समझता हूँ कि अस्तित्व से संबंध है और सीधा है। एक तो विधान या क़ानून से संबंध रखने वाली इस तरह की अधिकार सम्पन्न दो संस्थाओं की टक्कर ही बड़ी अशोभनीय है क्योंकि इस तरह के कार्य उस न्याय अथवा विधान की पवित्रता को ठेस पहुँचाते हैं जो विधायकों और न्यायाधीशों के निष्पक्ष और सन्देह से परे रहनेवाले व्यक्तित्व से निरन्तर गरिमा और पवित्रता पाते रहते हैं। यह सही हो सकता है कि दोनों संस्थाएँ अपने अधिकार के प्रति एक-दूसरे के हस्तक्षेप से विक्षुब्ध हो उठीं किन्तु विक्षोभ सामान्य व्यक्ति का गुण होता है, न्याय या शासन का नहीं, क्योंकि न्याय और शासन की सबसे बड़ी विशेषता यही मानी गई है कि वे उद्वेग और संवेग की चरम स्थिति में भी निरुद्वेग और शान्त रहते हैं।

'न्यायपालिका के साथ ऐसे व्यवहार जनता क्षमा नहीं करेगी' यह वाक्य केन्द्रीय न्याय मंत्री ने कहा था। यदि इस प्रकार जजों को गिरफ्तार करके विधानसभाओं के सामने उपस्थित किया जाने लगे तो जनता में न्याय के प्रति

विश्वास उठ जाएगा।' लेकिन इस बात का 'ण्' दूसरा पहलू भी तो है कि विधान सभा के अधिकार म जजो को भी हस्तक्षेप नही करना चाहिए। इससे उनके सम्मान को भी तो ठेस लगती है।"

ठीक है किन्तु अन्तत प्रश्न यह रह जाता है कि विधानसभा के बनाए हुए कानूनो की अंतिम व्याख्या का अधिकार किसे है ? न्यायपालिका विधान की केवल संरक्षिका ही तो नही है उसकी व्याख्याता भी है। "होगी व्याख्याता, पर उसे अपनी अधिकार सीमा को तोडने का अधिकार नहीं है।"

बहरहाल हम इस प्रश्न म नही पडना चाहते कि किसन किसकी अधिकार सीमा का उल्लघन किया। प्रश्न यह है कि इस काय से जनता, खास तौर से भारतीय प्रजातत्र और न्याय व्यवस्था म विश्वास रखने वाली बौद्धिक जनता के ऊपर क्या प्रभाव पडा ? मेरा ख्याल है, यह एक बहुत ही गमगीन और मायूस करने वाला प्रभाव है, जो अस्तित्व के प्रति सकल्पित आस्था को ठेस पहुचाता है।

"तुम दोनो की बातें सतह की मरीचिका हैं या उसकी स्थूल और भोडी व्याख्या का प्रयत्न' मेरा दूसरा मैं अजीब आत्मतटस्थता म डूबा डूबा बोला— 'इट इज एन इन्टेलेक्चुअलि केथार्सिस—यह एक बौद्धिक पीडा त्रास या उसका गलत विरेचन है। प्रश्न इस बात का नही है कि न्यायपालिका या विधान पालिका का सघष उचित है या नही—उचित हो भी सकता है नहीं भी हो सकता है। क्योकि यह प्रश्न एक ऐसे आरोपित आवरण का है जो इतिहास की देन है। इससे साहित्यकार का सीधा सम्बन्ध मेरी दृष्टि से बिलकुल नही है। सम्बन्ध सिफ व्यक्ति की स्वतत्रता से है जिसके इद गिद यह सघष अनेक प्रश्न वाचक चिह्न उछाल रहा है। न्यायपालिका या विधानसभा कहने के लिए व्यक्ति विशेष के अधिकार और कत्तव्य की रक्षा के लिए नियोजित सस्थाएँ हैं। किन्तु विधान और न्याय के रूप हमेशा ही किसी न किसी सीमा म व्यक्ति के अस्तित्व पर लगाए हुए अकुश के परिणाम है। लेखक हमेशा ही शुद्ध स्वतत्रता की वकालत करेगा। वह हमेशा ही जागरूक प्रहरी की तरह इस बात पर ध्यान रखेगा कि दो उच्चतम सामाजिक मूल्यो की प्रतिष्ठा म सामान्य व्यक्ति का एक सहज जीवन मूल्य उपेक्षित न कर दिया जाए—

हम विस्तीण प्रगाढ नीले, हलचलो से भरे सागर की प्रतिष्ठा के प्रति नत शिर हैं। वह निरन्तर अपनी पूरी शक्ति के साथ रहे—

असख्य दबावो तनावों खींचों और मरोडो को
अपनी द्रव एकरूपता म समेटे हुए
असख्य गतियो और प्रवाहो को
अपने अखड स्वयम म समाहित किए हुए

स्वायत्त
अचचल !

समुद्र की व्यवस्था, मर्या‍ा गभीरता और अचचलता के प्रति हमारे मन म स‍देह नहीं है पर हवा का एक बुलबुला भर पीने को उछली हुई मछली अपनी जिजीविषा के लिए दण्डित न हो।

साहित्यकार यदि इस तरह की समस्याओ पर सोचता है तो सिफ इसलिए कि मछली के अस्तित्व और उसके अधिकारो पर आच न आए। उसकी अन वरत साधना सिफ इसी की रक्षा के लिए प्राणपण स सकल्पित रहती है

मिट्टी की बनी पानी से सिंची प्राणाकाश की प्यासी
उस अ‍तहीन उदीषा को
तू अ‍तहीन काल के लिए फलक पर टाक दे
क्योंकि वह माग मेरी मेरी, मेरी है कि प्राणों के
एक जिस बुलबुले की ओर मैं हुआ हूँ उदग्र, वह
अ‍तहीन काल तक मुझे खींचता रहे।

—अनेय आगन के पार द्वार

●

जिया, जरत रहत दिन रन
हो रामा
जरत रहत दिन रन।

आज से २८ वप पहले भारत के लाखा गावो मे से किसी एक का बाशि‍दा था वह, नाम था होरी। उसकी सामा‍य जि‍दगी पर मुशी प्रेमच‍द ने एक नाविल लिखा और वे अपने नाविला मे तख़य्युल का कम से कम दखल स्वीकार करते थे, ये सभी जानत हैं। २८ साल बाद उनके नाविल पर फिल्म बनी गो‍दान। २८ साल तक गोदान के सफहो म दबी हुई वह आत्मा लगातार एक पुरदद गीत गाती रही—

जिया जरत रहत दिन रन हो रामा।

लेकिन यह गीत कभी भी उसके होठो पर घुमडकर आ नही पाया। यह जलन यह पीडा सदा उसकी आत्मा म घधकती रही पर वह एक ऐसा शख्स था जो अपने दद को दूसरा मे बाँट देना हेठी समझता था। कही दद के गीत की कोई कडी उसके हाठो से फूट न पडे इसलिए उसन अपने होंठ सी लिए थे। समाज ने ‍शासन ने किस्मत ने जो कुछ विष दिया उसे वह अपनी उस बेजुबान गाय की तरह पी गया। उसने दम तोड दिया पर किसी से कुछ कहा नही।

और आज जब होरी नहीं है उसका वह गीत उसकी आत्मा की तरह शरीर से बाहर आकर चारो तरफ जल म थल मे खहर खभ म सवव्यापी

हो गया है। गोदान का घिसा हुआ रेकार्ड उसी तरह बजता चला जा रहा है।

भारतीय लोकसभा म इस बात पर काफी तू तू मैं मैं हुई कि हमारे देश म प्रत्येक व्यक्ति की रोजाना ग्रौसत ग्रामदनी तीन ग्राना है कि दस ग्राना है। लोहिया कहते थे कि तीन ग्राना है शासन कहता था कि दस ग्राना।

जब मैं पूछता हूँ होरी स कि इसम स कौन सही है तो वह बडी श्रद्धा स हमारे बठने क लिए ग्रपनी मूज की झिलंगी चारपाई बिछा देता है ग्रौर गुड की एक छोटी सी भेली के साथ ठडा पानी सामने रखकर हँसते हुए कहता है— ग्राप लोग विद्वान हो बाबू तुम्ही लोग फसला कर दो। यह फसला कर देने की बात नही है होरी यदि लोहिया साहब ठीक कह रह हैं तो कहो कि वे ठीक हैं नही यदि उन्होने तुम्हे दरिद्र कहकर बदनाम करने की कोशिश की है तो कहो गलत है। सरकार यदि ठीक कह रही है तो कहो ठीक है, नही साफ कहो कि सरकार तुम्हारी ग्रसली हालत को छिपाकर ग्रपना उल्लू सीधा कर रही है।"

होरी पसोपेश म पड जाता है फिर हाथ जोडकर उसी तरह मुसकराते हुए, जिसका ग्रथ समझना तब भी मुश्किल था, ग्रब भी मुश्किल है कहता है—"लोहिया साहब या सरकार जो भी कहेगे सब ठीक ही कहगे। वे क्या हमारे दुश्मन है ?

'ग्रटठाइस साल म जाने जमाना कितना बदल गया होरी मगर तुम नही बदले!' मैं उसकी ग्रोर विरक्ति ग्रौर नफरत स देखते हुए बडबडाता हू— 'तुम्हारी यह वत्ति ही सभी प्रकार की स्थितियो का एकमात्र कारण है। तुम उस तरह के इन्सान हो जिसे ग्रार्केइक मन—एकदम मौलिक मनुष्य कहा जाता है तुम्हारी प्रवत्तिया, तुम्हारी सहनशक्ति गलत सही म भेद करने की तुम्हारी पद्धतियाँ—सभी वही हैं। कुछ नहा बदला है इन ग्रटठाइस वर्षों म कुछ नही बदला है। यदि बदला है तो सिफ यह कि तब तुम्हारी रोजाना की ग्रौसत ग्रामदनी पर इतनी गभीरता से बहस नही होती थी। मगर इस गभीर बहस का भी नतीजा क्या निकलता है। बहस तीन ग्राने ग्रौर दस ग्राने के दो छोरो से शुरू होती है ग्रौर ग्राकर पाँच ग्राने पर खत्म हो जाती है। स्वर्णिम पथ! हम इस तटस्थ देश के लोग दूसरा कर भी क्या सकते हैं। दो ग्रतिवादी छोरो के बीच एक मध्यम माग निकाल लेना ही हमारा राष्ट्र धम है। चाहे वह कोई प्रश्न हो कोई सकट हो कोई समस्या हो हम इस बात मे विश्वास करते हैं कि हम धय धारण करके बठ जाना चाहिए समय ग्रपने ग्राप कोई मध्यम माग निकाल लेगा।

विश्वनाथ गहमरी उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल की स्थिति का दारुण चित्र

सोचते हुए जब वहते हैं कि अनेक लोगो को पशुओ के गोवर म से धोकर निकाले हुए अनाज के दाना पर निभर रहना पडता है, तो प्रधान मत्री की आँखें भर आती हैं।

जिधर देखिए उधर चर्चा हो रही है, भाई नेहरु जी यह सब सुनकर रोने लगे। क्या न हो, आखिर देश के राजा हैं प्रजा का दुखडा सुनकर जो राजा रोने न लगे वह राजा कैसा। तुलसीदास भी कह गए हैं—

मुखिया मुख सो चाहिए खानपान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अग, तुलसी सहित विवेक॥

मुखिया मुख के समान होना चाहिए। यानी खाने-पीने का काम सिफ उसे ही करना चाहिए। हाँ यह जरूर है कि इतना विवेक तो होना चाहिए कि बाकी अगो का भी पालन-पोषण होता रहे—मैं जब हँसते हुए तुलसीदास के दोहे का यह अथ समझता हूँ तो सभी 'मौलिक' इसान क्रुद्ध होकर मुझ नई खोपडी की उल्टी दृष्टि पर आक्रमण कर बठते हैं। उन्हें नेहरू जी की सब-वत्सलता पर अटूट विश्वास है। तभी मुझे याद पडता है कि 'होरी' की दृष्टि मे 'मुखिया मुख' का सबध चाहे कितना भी सुखद क्यो न रहा हो धनिया इस सबध पर हमेशा ही लडने को तैयार हो जाती थी। इसलिए क्यो न उसे ही चलकर यह खबर दी जाए कि आज पहली अप्रलको दिल्ली म महँगाई के विरुद्ध पाँच हजार गृहस्थिनो ने भारी प्रदशन किया। मैं बडे उत्साह और विश्वास से जब धनिया भाभी को इस प्रदशन का विवरण सुनाता हू, इसकी एक एक स्थिति का नक्शा उतारता हूँ तो वह चुपचाप मन मारे इन खबरो को यो सुनती रहती हैं जस उन्हें इस बात का कोई गम नही कि होरा ने ही विष देकर उसकी गाय को मार डाला था।

तो तुम भी अब ठण्डी पड गई भौजी है न ?'

मैं ताने पर ताने दिए जा रहा हूँ गुस्सा दिलाने की लाख कोशिश करता हूँ पर धनिया है कि टस से मस नहीं होती—और यह कम्बख्त गोदान का रेकाड जहाँ जाइए पीछे से अपनी बेसुरी आवाज म रेंकने लगता है—

जिया जरत रहत दिन रन हो रामा।

अच्छा भौजी एक गिलास पानी पिलाओ लगता है तुमने भी मुख न खोलने का निश्चय कर लिया है। मैं चुपचाप बिना कुछ कहे बगल की माची पर बठ जाता हूँ।

हाथ म पानी का गिलास थमाते हुए भौजी कहीं सामने पड पर ताकती हुई बडबडाती हैं— मालती बीबी जसी लुगाइयो के परदरसन' स किसानो का क्या बने बिगडेगा लाला। माना कि उन लागो को महगाई से बडी परेशानी है पर खाने को दो जून मिल जाता है। दवा-दारू के बिना बच्चो को आँखो

के सामने दम तोडते तो नही देखना पडता। बदन पर लाज ढकने को वस्तर तो हैं यहा तो 'कफन के लिए भी अब तक पैसा उधार ही मागना पडता है। सब जगह तो आग लगी है लाला, फिर मैं ठण्डी न पडूँ तो क्या करूँ।'

मैं चुपचाप लम्बी सास खीचकर माची से उठ जाता हूँ। तभी मुझे लगता है कि एक अजब अनहोनी घट गई है। इस पूरे समय तक जब तक मैंने होरी और धनिया से बातचीत की मेरे दोनो मैं कही दिखाई न पडे। तो क्या वे तीना एकाकार हो गए थे ? तभी मुझे लगता है कि मुझे आज एक नये सत्य की प्रतीति हुई है। मैं' के तीनो रूप वही एक दूसरे के विरुद्ध, उफनते उबलते दिखाई पडत हैं जहा जिन्दगी के सही यथाथ से उनकी टक्कर नही होती। यह सारी बहस सारा फलसफा सतह का बीचि विवत ह। और तभी जाने क्यो मुझे इन तीनो बहुरूपिय मैं नामधारी प्राणियो से तीखी घणा हो जाती है।

अब मुझे साफ माफ लगता है कि मेरी परेशानी का कारण खबरें नही थी बल्कि घणा का वह भाग है जो मेरे मन मे इन सतहजीवी तीनो 'मैं' के लिए एक साथ उभर आया।

मुझे घणा सिफ क्या इन्ही से है ? मैं जब जब इस पर सोचता हूँ मुझे लगता है प्रश्न ऐसे नही होना चाहिए था। प्रश्न शायद यह है कि मुझे घृणा किसस नही है। और मुझे यह कहते सकोच नही होता कि इसका मेरे पास कोई उत्तर नही है। ऐसा कोई नही कुछ भी नही है जिससे मुझे घणा न हो। अपने देश की राजनीति स, पार्टियों से नेताओ से, न्यायाधीशो से, विधान सभाओ स अपने से सबसे मुझे घणा है। तो शायद घृणा ही मेरी आत्मवत्ति है और ये तानो मैं उसी घणा के स्वत विभक्त तीन जीवित पिण्ड है, एक दूसरे से लडते झगडते प्राणी स्वत विगहणीय अवचेतन की तीन खोलें। सहसा मैं अपने को बहुत हल्का सा महसूस करने लगता हू —पर पर कोई इस गधे को क्या नहीं समझाता कि वह रेकाड बन्द कर दे—फिर बजाता जा रहा है वसे ही—

जिया जरत रहत दिन रन हो रामा,
जरत रहत दिन रन।

आदमी माने 'ब्रेक' का बंडल

प्रिय भाई,

आपका पत्र गहरी वेदना जगा गया। आपने 'होली के हुडदंग' को जिन शब्दों में याद किया है, उसके लिए दोष किसे दू। गाली गलौज, कीचड-कादो, क्या यही वसंत है? आपकी खीझ मैं समझ रहा हूँ। मेरा ख्याल है आप जैसी ही खीझ अनेक लोगों के मन में भरी होगी। उस दृश्य की भी आपने खूब याद दिलाई। हां, वह बीभत्स था, मगर शिवपूजा के इस देश में उसे बीभत्स इसीलिए माना जाएगा कि वह निहायत पशु धरातल पर स्थापित था। आपने लिखा है कि मनुष्य इतना छिछोरा और लपट क्यों होता जा रहा है। ऐसी हैवानियत लोगों में क्या आती जा रही है? आपको वसंत में ऐसा कुछ नहीं लगता कि वह मनुष्य के मन के सारे बंधन तोड डाले।

आपके पत्र को पढते मुझे कई कई बातें एक साथ याद आ गई। यहाँ तो अवसर यही रोना सुनाई पडा कि होली बडी फीकी गई। अब वह मस्ती का आलम रहा नहीं। न तो वह हुडदंग है न वह असीम खुलापन।

वसंत में क्या सचमुच आपको ऐसा कुछ नहीं लगता, जो थोडा विचित्र थोडा रहस्यमय, थोडा अकुलाहट से भरा हो? क्या आपको प्रकृति में कोई परिवर्तन नजर नहीं आता? यह और बात है कि कभी-कभी वसंत प्रकृति के वसंत से थोडा पहले ही आ जाए, पर ऐसा तो मानने का मन नहीं होता कि बसंत आए और प्रकृति में कोई परिवर्तन ही न हो। मुझे तो हर बार जब बसंत आता है लगता है कि कुछ कहीं खो गया है। एक बडी बेढंगी किस्म की चेतना यह भी, कि सहसा लगे कि भीतर से कुछ फूलने फूलने को हो रहा है। कभी-कभी तो गंध और रंग की मिली-जुली छटा ही ऐसी हो जाती है कि बरबस तन मन पर एक अनजानापन पारदर्शी खाल की तरह चढ़ जाता है। अपने को अपनी आँखों देखते लगे अपहचानी भले न लगे, पर कुछ है तो जरूर ऐसा कि

जिसके स्पर्श से हवा पहले से अधिक अपरिचित लगती है नाकों में गंधों की एक अनजानी सजगता जैसे जी उठी हो और उसी का एक डला लगे कि अभी अभी फिसलकर गले के नीचे उतर गया हो जो जिस्म के हर हिस्से को बंधन हीन बनाने लगा हो।

और शायद इस बंधन से हीन होने के कारण ही रंगों में नई चटक और गंधों में अनोखी गमक का रहस्य खुलता है। आपको यह बात अजीब लग रही होगी, है भी कुछ। आपने हेनरी मिशाक (Heneri Michaux) का नाम सुना है? बहुत अनोखे व्यक्ति हैं य। संसार का कोई भी तीखे से तीखा नशा इन्होंने छोड़ा नहीं। वे दवाइयाँ भी खाते रहे थे जिनकी शीशियों पर लाल अक्षरों में लिखा रहता है 'जहर'। मजे की बात यह कि ये नशे में धुत पड़ जाने वाले ऐसे-वैसे इन्सान भी नहीं जो बेहोश हो रहे। इन्होंने गहरे से गहरे नशे की हालत में अपने तन और मन की हर स्थिति पर ध्यान दिया और उसकी गहरी अंधेरी घाटियों में रोशनी की लहरें देखीं। इन्हीं अनुभवों पर आधारित इनकी एक मजेदार किताब अभी अभी आई है नाम है 'लाइट थ्रू डार्कनेस' यानी अंधेरे के भीतर से रोशनी। लिखते हैं आदमी ब्रेक (बंधन) का प्राणी है, यानी उसका पूरा अस्तित्व ब्रेक्स पर आधारित है। यहाँ तक आपकी और मिशाक की बात एक जैसी है, पर जरा आगे सुनिए 'इनमें से यदि एक टूट जाए तो वह खुशी से चिल्ला उठता है आजादी! आजादी!! पर उस समय भी बेचारे पर जाने कितने कितने 'ब्रेक्स' का शासन बना ही है। याद रखना चाहिए कि नये रूप, नये विचारों की गति हमेशा ब्रेक न रहता लगने पर ही संभव है।

आप शायद चिढ़ जाएं हटाइए भी किस पियक्कड़ लेखक की चर्चा छेड़ दी आपने। मैं मानता हूँ कि लेखक पियक्कड़ है, पियक्कड़ ही नहीं गंभीर नशाखोर या विषपायी, पर एक बात उन्होंने जरूर पते की कही है वह यह कि आदमी मानो ब्रेक का बंडल। हालांकि उन्होंने यह सब हिकारत और घृणा से कहा है और वह इन्हीं बंधनों को तोड़ने के लिए जहरीली से जहरीली दवा खाकर अपने को मुक्त अनुभव करते रहे हैं पर यदि ... सच हो तो हम यह सोचना नहीं चाहिए कि इसका कहने वाला अफ्ट ... है।

मगर इस ब्रेक के बंडल से हानी का क्या ... ?

मैं समझता ... सत्य है और बड़ा गहरा ... क्या सारे अस्तित्व ... सम्बन्ध ही नहीं ... मक्त हैं इसे। पर ... । वातावरण में कुछ ... , जैसी आ गई ... पर पर ...

हवा अचेतन बाँस की बाँसुरी के छिद्रों में बँधकर तरह-तरह के मोहक स्वरों में फूट पड़ती है। क्यों ? वह इसलिए कि एक सूक्ष्म और शक्तिशाली पदार्थ को एक नियमित मार्ग में बाँधने का प्रयत्न किया गया। समतल पर बहते हुए, शिथिल गति से चलने वाले पानी को बाँधकर नियमित ढंग से गिराने का फल हुआ विद्युत। और यह विद्युत भी तब तक एक अदृश्य पदार्थ ही रहती है, जब तक कि बंधनों में नहीं बँधती। अलग अलग किस्म के बंधनों ने इसे कभी बल्ब की रोशनी, कभी पंखे की हवा, कभी हीटर में ताप देने वाली आग में, यानी नाना रूपों में बदल दिया। है न ?

वसंत में भी कुछ ऐसा ही परिवर्तन होता है। हमें आपको यदि यह महसूस नहीं होता तो शायद इसलिए कि हमारा शरीर उसे शक्ति की अभिव्यक्ति का ठीक यंत्र नहीं रह गया है। अब देखिए न, इन सूक्ष्म पदार्थ की प्रक्रिया से प्रकृति में क्या अंतर आ जाता है। नये लाल-लाल पत्तों से मोटी भद्दी डालें ढँक जाती हैं। कठोर डंठलों को चीरकर मुलायम कलियाँ झाँकने लगती हैं। फूलों में एक अजीब किस्म की मादक गंधों के झकोरे उठने लगते हैं, जैसे वृक्ष, लता, पौधे सभी में कोई अदृश्य कारीगरी रंग और गंध के माध्यम से अपना करतब दिखा रही हो और यह भी इस गति, त्वरा और शक्ति के साथ कि लगता है स्थूल प्रकृति इसे सम्हालने में परेशान हो मगर उस परेशानी में भी वह झूम-झूम जाती हो। मानो यह एक ऐसा नशा है जो हर अस्तित्व को उसके होने का सारा अर्थ दिए जा रहा हो।

कालिदास ने वसंत की इसी सर्वव्याप्त अदृश्य सूक्ष्म शक्ति को तो लक्ष्य करके कहा था

> द्रुमा सपुष्पा सलिलं सपद्मं स्त्रियः सकामाः पवनः सुगंधिः ।
> सुखाः प्रदोषा दिवसाश्च रम्याः सर्वं प्रिये चारुतरं वसंते ॥

इस अद्भुत नशीले तत्त्व को अनुभव न करना इस बात का सूचक है कि हमारे अन्दर कहीं न कहीं कोई यांत्रिक गड़बड़ी है कहीं न कहीं रास्ता जाम है।

किन्तु क्या जड़ प्रकृति और मनुष्य दोनों का यंत्र एक जैसा ही है ? क्या हम अपने जीवन में इस जड़ प्रकृति का अनुसरण करना ही चाहिए ? नहीं। हमारा यंत्र प्रकृति के अन्य प्राणियों या वनस्पति-जगत की अपेक्षा कई गुना सूक्ष्मतर और शक्तिशाली है। जाने इस सूक्ष्म प्रकृति को कितने कितने लाख वर्षों तक निरंतर श्रम करना पड़ा होगा मानवीय यंत्र के निर्माण और परिष्कार के लिए। मैं तो उस दिन की याद करके ही अभिभूत-सा हो जाता हूँ जिस दिन 'स्थूल प्राणमय कोश' वाली इस प्रकृति के भीतर मनोजगत का स्पर्श हुआ होगा। जिस दिन स्थूल चेतना वाले प्राणी के अन्दर कल्पनाशील मन की उत्पत्ति हुई होगी, उस दिन 'सूक्ष्म ईथर' के भीतर जाने कितना शक्तिशाली विस्फोट

जिसके स्पर्श से हवा पहले से अधिक आकर्षक लगती है, जैसे मन में की एक अनजानी सजगता जैसे जी उठी हो और उसी का एक हल्का सा सिरा अभी अभी फिसलकर गले से नीचे उतर गया हो जो जिस्म के हर हिस्से को बंधन हीन बनाने लगा हो।

और शायद इन बंधनों से हीन होने के कारण ही रंगों में नई चमक और गंधों में अनोखी गमक का रहस्य छुपा है। शायद यह बात अजीब लग रही होगी, है भी कुछ। आपने हेनरी मिशाक (Henri Michaux) का नाम सुना है? बहुत अनोखे व्यक्ति हैं ये। संसार का कोई भी तीखा से तीखा नशा इन्होंने छोड़ा नहीं। ये दवाइयाँ भी खाते रहे थे, जिनकी शीशियों पर लाल अक्षरों में लिखा रहता है 'ज़हर'। मज़े की बात यह कि ये नशे में धुत पड़ जाने वाले ऐसे बस इन्सान भी नहीं जो बेहोश हो रहें। इन्होंने गहरे से गहरे नशे की हालत में अपने तन और मन की हर स्थिति पर ध्यान दिया और उनकी गहरी अंधेरी घाटियों में रोशनी की लहरें भेजीं। इन्हीं अनुभवों पर आधारित इनकी एक मज़ेदार किताब अभी अभी आई है, नाम है 'लाइट थ्रू डार्कनेस' यानी अंधेरे के भीतर से रोशनी। लिखते हैं 'आदमी ब्रेक (बंधन) का प्राणी है, यानी उसका पूरा अस्तित्व ब्रेक्स पर आधारित है।' यहाँ तक आपकी और मिशाक की बात एक जैसी है पर ज़रा आगे सुनिए 'इनमें से यदि एक टूट जाए तो वह खुशी से चिल्ला उठता है आज़ादी! आज़ादी!' पर उस समय भी बेचारे पर जाने कितने कितने 'ब्रेक्स' का शासन बना हो है। याद रखना चाहिए कि नये रूप, नये विचारों की गति हमेशा ब्रेक न रहता लगने पर ही सभव है।

आप शायद चिढ़ जाएँ 'हटाइए भी किस पियक्कड़ लेखक की चर्चा छेड़ दी आपने। मैं मानता हूँ कि लेखक पियक्कड़ है, पियक्कड़ ही नहीं गभीर नशाखोर या विषपायी, पर एक बात उन्होंने ज़रूर पते की कही है वह यह कि आदमी माने ब्रेक का बडल। हालाँकि उन्होंने यह सब हिकारत और घृणा से कहा है और वह इन्हीं बधनों को तोड़ने के लिए ज़हरीला से ज़हरीली दवा खाकर अपने को मुक्त अनुभव करते रहे हैं पर यदि बात सच हो तो हम यह सोचना नहीं चाहिए कि इसका कहने वाला अच्छा है या बुरा है।

मगर इस ब्रेक के बडल से होली का क्या सबध है भला?

मैं समझता हू कि सबध है और बड़ा गहरा है। होली ही से क्यों, सारे अस्तित्व से इसका सबध है। सम्ब ध ही नहीं काय कारण सबध भी कह सकते हैं इसे। अब वसत को ही लीजिए। वातावरण में कुछ बदला है। एक अदृश्य शक्ति के भीतर रासायनिक परिवतन की बाढ़ जैसी आ गई है। प्रकृति के स्थूल रूपों के भीतर उसकी लहरें गुनगुनाने लगी हैं धक्के पर धक्के लग रहे हैं। अदृश्य

हुआ अचेतन बास की बासुरी के छिद्रों में बँधकर तरह-तरह के मोहक स्वरों में फूट पड़ती है। क्यों? वह इसलिए कि एक सूक्ष्म और शक्तिशाली पदार्थ को एक नियमित मार्ग में बाँधने का प्रयत्न किया गया। समतल पर बहते हुए, शिथिल गति से चलने वाले पानी को बाँधकर नियमित ढंग से गिराने का फल हुआ विद्युत। और यह विद्युत भी तब तक एक अनदेखा पदार्थ ही रहती है जब तक कि बंधनों में नहीं बँधती। अलग अलग किस्म के बंधनों ने इस कभी बल्ब की रोशनी, कभी पंखे की हवा, कभी हीटर में ताप देने वाली आग में, यानी नाना रूपों में बदल दिया। है न?

वसंत में भी कुछ ऐसा ही परिवर्तन होता है। हमें आपको यदि यह महसूस नहीं होता तो शायद इसलिए कि हमारा शरीर इस शक्ति की अभिव्यक्ति का ठीक यंत्र नहीं रह गया है। अब देखिए न, इन सूक्ष्म पदार्थ की प्रक्रिया से प्रकृति में क्या अंतर आ जाता है। नये लाल-लाल पत्तों से सोनी भरी डालें ढँक जाती हैं। कठोर डंठलों को चीरकर मुलायम कलियाँ झाँकने लगती हैं। फूलों में एक अजीब किस्म की मादक गंधों के फव्वारे छूटने लगते हैं, जैसे वन, लता, पौधे सभी में कोई अनदेखा कारीगर रंग और गंध के माध्यम से अपना करतब दिखा रहा हो और यह भी इस गति, त्वरा और शक्ति के साथ कि लगता है, स्थूल प्रकृति इसे सम्भालने में परेशान हो मारे उस परेशानी में भी वह झूम झूम जाती हो। मानो यह एक ऐसा नशा है जो हर अस्तित्व को उसके होने का सारा श्रम भुला दे रहा हो।

कालिदास ने वसंत की इसी सर्वव्याप्त अनदेखी सूक्ष्म शक्ति को लक्ष्य करके कहा था

> द्रुमा सपुष्पा सलिलं सपद्मं स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः।
> सुखाः प्रदोषाः दिवसाश्च रम्याः सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते॥

इस अद्भुत नशीले तत्त्व को अनुभव न करना इस बात का सूचक है कि हमारे अन्दर कहीं न कहीं कोई यान्त्रिक गड़बड़ी है कहीं न कहीं रास्ता जाम है।

किन्तु क्या जड़ प्रकृति और मनुष्य दोनों का यंत्र एक जैसा ही है? क्या हम अपने जीवन में इस जड़ प्रकृति का अनुसरण करना ही चाहिए? नहीं। हमारा यंत्र प्रकृति के अन्य प्राणियों या वनस्पति-जगत की अपेक्षा कई गुना सूक्ष्मतर और शक्तिशाली है। जाने इस सूक्ष्म प्रकृति का कितने कितने लाख वर्षों तक निरन्तर श्रम करना पड़ा होगा मानवीय यंत्र के निर्माण और परिष्कार के लिए। मैं तो उस दिन की याद करके ही अभिभूत-सा हो जाता हूँ जिस दिन स्पंदन प्राणमय काया वाली इस प्रकृति के भीतर मनोजगत का स्पंदन हुआ होगा। जिस दिन स्थूल चलने वाले प्राणी के अन्दर कल्पनाशील मन की उत्पत्ति हुई होगी, उस दिन सूक्ष्म ईथर के भीतर जाने कितना शक्तिशाली विस्फोट

आदमी मात्र 'ब्रेक' का बदल।

हुआ होगा। एक नई सूक्ष्म चेतना जब स्थूल पदार्थ से जुड़ी होगी, तो जाने कितने प्रकार की बहुविध गंध और रोशनी की लहरों से सारा अस्तित्व थरथरा गया होगा। इसी दिन प्रकृति ने एक ऐसे प्राणी को जन्म दिया जो यंत्र तो था ही, उसका चालक भी बना दिया गया। हाँ यह जरूर है कि वह सार्वभौम सत्तासंपन्न चालक अब भी नहीं है। अभी भी प्रकृति की देखरेख में काम करने वाला यानी अप्रेंटिस ही है। सूक्ष्म प्रकृति के कास्मिक राज्य मे मनुष्य अधिकार प्राप्त उपनिवेश है, प्रकृति का सबसे प्रबुद्ध प्रतिनिधि। इसीलिए उसके जीवन की प्रक्रिया दुहरी है। वह खुद गतिशील मोटर भी है और उसका ड्राइवर भी। इसीलिए उसके लिए 'ब्रेक' का उपयोग भी बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

मनुष्य की सार्थकता किस बात में है ? मुझे लगता है कि उसकी सार्थकता पशु से भिन्न सिर्फ इस अर्थ मे है कि उसे सभी अनुभूतियों और तन्मात्राओं को मनोजगत के स्तर पर अधिक से अधिक भोगने का प्रयत्न करना चाहिए। अर्थात उसे उद्रेक के क्षणों में भावातिरेक की अवस्था मे कुछ ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि वह पशु या वनस्पतियों की तरह 'अस्तित्व' को स्थूल शरीर या प्राणमय कोश के भीतर कम से कम भोगे। ऐसा तो संभव नहीं कि इस भोग को वह स्थूल शरीर से पूरी तरह बचाकर रख पाएगा पर प्रकृति की, जिसने उसे मनोमय कोश का रिक्थ प्रदान किया है,यह अभीप्सा जरूर है कि मनुष्य के भोग में अधिक से अधिक भाग मनोमय कोश का ही हो।

जाने कितनी शताब्दियों से साहित्य कला, धर्म दर्शन आदि प्रकारांतर से यही प्रयत्न करते आ रहे हैं कि मनुष्य के मनोमय लोक का सूक्ष्म विकास हो सके पर जब तक इस प्रक्रिया को सही रूप मे समझ नहीं लिया जाता, तब तक यह संभव नहीं है कि वसंत आए और उसमें असीम कीचड़ काँदो का प्रयोग न हो।

मोटर का रूप प्राणमय कोश है और गति मनोमय जगत् का प्रतीक। दोनों में प्रबल गुणात्मक भेद है। एक स्थूल है दूसरा सूक्ष्म। दोनों का संयोग जितनी बड़ी उपलब्धि है उतनी ही बड़ी खतरे की चीज भी। यदि गति तीव्र हुई औसत से अधिक तीव्र तो यंत्र टूट सकता है और यदि गति आई ही नहीं तो यंत्र जड़ होकर रह जाएगा। इसीलिए गति और यंत्र की संधि पर 'ब्रेक' की जरूरत पड़ी। हम अपनी यात्रा पर निकलने के पहले क्या सावधानी से यह देख लेना जरूरी नहीं है कि ब्रेक ठीक से काम कर रहा है या नहीं ?

ब्रेक ठीक से काम कर रहा है इतना जान लेना भी शायद पर्याप्त नहीं है। यह भी जानना कम आवश्यक नहीं है कि ब्रेक कब लगे। यंत्र और गति की समरसता के लिए कब और 'कम' की जानकारी भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो

जाती है। अचानक तीव्रतम गति में उद्रेक के साथ ही यदि 'ब्रेक' मारा गया तो दुर्घटना हो सकती है, आग लग सकती है।

ब्रेक के इस अचानक प्रयोग से एक बार भयंकर ऐतिहासिक अग्निकांड हो गया था, वह आपको पता ही होगा। दुर्घटनाओं को भूल जाने की प्रवृत्ति हमें छोड़ देनी चाहिए। क्योंकि ये घटनाएँ हम निरंतर सही संतुलित जीवन यात्रा के लिए शिक्षा-संकेत देती रहती हैं।

वह भी वसंत का समागम ही था। वनस्थली में उसका पर्व पड़ा ही था कि दूज के चाँद के समान टेसू के फूलों से डालें लहक उठी थीं। चारों ओर मादक गंध और मधुप राग से भरे हुए नाना आकार के फूल अचानक खिल-खिला पड़े थे। और सहसा एक ही फूल की पंखुरी में पहली बार भ्रमर और भ्रमरी एक साथ बैठकर मधुपान करने लगे थे। हरिण और हरिणी की आँखों में प्रियाल के फूलों की धूलि इस तरह छा गई थी कि वे ज़मीन पर गिरे सूखे मर्मर करते पत्तों के बीच विचित्र रहस्य से भरी कुलाँचें भरने लगे थे। उसी समय अकंप दीपक की लौ के समान अडिग, बिना बरसने वाले बादल के समान गंभीर और बिना लहर वाले ताल के समान अचंचल एक योगी के चरणों में झुककर एक तरुणी ने प्रणाम किया था, मानो फूलों के गुच्छे से लदी हुई कोई लाल-लाल कोंपलों से ढँकी लता झुक गई हो और जब उस तरुणी ने अपने चिकने मुलायम हाथों से मंदाकिनी के कमलों के सूखे हुए बीजों की माला को योगी के गले में डाल दिया था तो गंभीर समुद्र में पूनो के चाँद को देखकर सहसा ज्वार का वेग उमड़ पड़ा था।

उसी समय ग्लानि से पीड़ित होकर संयम का अचानक 'ब्रेक' लगा। उस स्थिति का वर्णन कालिदास से ही सुनिए

स्फुरन्नुदर्चि सहसा तृतीयादक्ष्णः कृशानुः किल निष्पपात।
तावत्सवह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार॥
तमाशु विघ्नं तपसस्तपस्वी वनस्पतिं वज्र इवावभज्य।
स्त्रीसन्निकर्षं परिहर्तुमिच्छन्नन्तर्दधे भूतपतिः सभूतः॥

तीसरा नेत्र खुलते ही आग की लपटें निकल पड़ीं और इस आग ने कामदेव को जलाकर राख में बदल दिया। जैसे बिजली किसी पेड़ पर गिरकर उसे तोड़ डालती है वैसे ही अपनी तपस्या में बाधा डालने वाले कामदेव को जलाकर, नारी से विरक्त हुए भूतपति भूतगणों के साथ अंतर्धान हो गए।

ब्रेक लगा ज़रूर, मगर इससे मन के भीतर भी बहुत कुछ जल गया। शिव सौंदर्य से विरक्त हो गए। यह स्वयं में एक मानसिक असहजता की स्थिति है। परिणाम में शिव को काफ़ी समय तक विक्षिप्तता का बोझ ढोना पड़ा। उन्हें स्वयं पार्वती के पास जाना ही पड़ा। इस बार गति सहज थी, प्रक्रिया

स्वाभाविक, शिथिल वहन्ना वाली पावती का हाथ थामते समय शिव शुद्ध नहीं हुए, मुसकरा पड़े

इतो गमिष्याम्यथवेति वादिनी चचालबाला स्तनभिन्नवल्कला।
स्वरूपमास्थाय च तां कृतस्मितः समाललम्बे वृषराजकेतनः ॥

यह सही है कि ब्रेक न लगने से ही गति संभव है किन्तु बिना ब्रेक की मोटर का तो भगवान ही मालिक है। कालिदास ने एक ऐसे व्यक्ति का जीवन भी हमारे सामने प्रस्तुत किया है जिसकी मोटर का ब्रेक काम नहीं करता था। वह है 'रघुवंश' में ही उत्पन्न राजा अग्निवर्ण। जिस वंश की दिव्य कथाएँ कहते कालिदास को भी अपनी प्रतिभा पर संदेह होने लगता है, उसी वंश में राजा अग्निवर्ण भी पैदा हुआ, जिसके मनस्तत्त्व की अग्नि केवल कड़वे धुएँ और दाह का कारण बन गई। वह अपने 'अस्तित्त्व' को शरीर या प्राणमय कोश के भीतर भोगने वाला पशु बनकर रह गया। जिस वंश के यश ने कवि के काव्य चापल्य को प्रेरित किया था और रघुवंश का सृजन कराया था, उसी की समाप्ति एक ऐसे राजा द्वारा हुई जिसके शव को पुरोहित और मंत्रियों ने चुपके से राजोद्यान में ही चिता पर रख दिया ताकि रोग के कीटाणु प्रजा में न फैल जाएँ

तं गृहोपवन एव संगताः पश्चिमक्रतुविदा पुरोधसा।
रोगशान्तिमपदिश्य मन्त्रिणः संभृते शिखिनिगूढमादधुः ॥

ऐसी भयावह परिस्थिति संभवतः तब आती है जब यंत्र चालक की सत्ता को पूर्णतः अस्वीकार कर देता है। इतना ही नहीं, वह चालक पर पूर्ण अधिकार कर लेता है और उसके भीतर यह धारणा मजबूती से बिठा देता है कि यंत्र जिस तरह चल रहा है वही विकास का सही पथ है। मनुष्य का स्थूल शरीर और उसकी प्राणशक्ति जब मन पर हावी हो जाती है तो यही स्थिति होती है। उस समय मन प्राणों के साथ एकाकार होकर शारीरिक बुभुक्षा की तृप्ति को ही चरम उद्देश्य मान लेता है। इस धारणा में मन और उसकी सारी शक्तियाँ घायल हो जाती हैं। क्योंकि एक तरफ उसकी अंतर्निहित दिव्यता उसे ऊपर उठने की प्रेरणा देती है दूसरी तरफ प्राणों का बल उसे लौकिक सुख की प्राप्ति के लिए नीचे की ओर खींचता है। इस खींचातानी के कारण एक अजीब तरह की थकान उपजती-पनपती है जो लौकिक सुखों के भीतर भी संदेहशील आहत मन को एकरस नहीं होने देती। परिणामतः नाना प्रकार की मानस ग्रंथियों का जन्म होता है और मनुष्य अपनी सारी ताकतों के रहते हुए भी असहाय प्राणी बनकर रह जाता है। इस थकान और असहायता को दूर करने के लिए भी एक शक्तिशाली ब्रेक की जरूरत है जो चालक और यंत्र की अधिकार-सीमाओं का अलग अलग बाँट रखे और कभी भी मोटर को यह मौका ही न दे कि वह

चालक के कब्जे से बाहर हो सके।

आप हँसकर व्यंग्य के साथ कहना चाहेंगे

'क्या खूब, आपने तो आदमी को बिल्कुल मोटर बना दिया। भले आदमी, यह क्या नहीं सोचते कि आदमी मोटर की तरह अलग अलग यन्त्र नहीं है। वह सामाजिक प्राणी है। अपने अपने घर की चहारदीवारी में बन्द होकर मोटरें लड़ें या दुर्घटनाग्रस्त हों, हमसे कोई मतलब नहीं, पर समाज में तो उनकी 'बीभत्स दौड़' नहीं ही होनी चाहिए ?"

मैंने इसीलिए तो आदमी को 'ब्रेक' नहीं कहा 'ब्रेक का पेडल' कहा है। सामाजिक 'ब्रेक' भी तो एक 'ब्रेक' ही है न। आपका समाज यदि अवसर-अनवसर हमेशा 'ब्रेक' लगाने की कड़ाई को ही अपनी शक्ति मानता है तो मानें मगर याद रखिए, यह गति स्वस्थ समाज का लक्षण कभी नहीं बन सकेगी। होली का यह 'बीभत्स' दिन समाज के स्वास्थ्य का प्रमाण है। इस दिन 'ब्रेक' टूट गया तो अच्छा ही हुआ गति के वेग में कीचड़-कादा बहकर आया तो आया धारा के प्रवाह में कूड़ा-करकट उतराया तो उतराया, अन्ततः कोई शक्ति को अभिव्यक्ति तो मिली। मैं तो समझता हूँ कि इस तरह के त्योहार साल में दो-तीन बार होते तो ज्यादा अच्छा होता, क्योंकि आज की जिन्दगी पहले से कहीं अधिक जड़ हो गई है। तमाम नालियाँ सूखे हुए कीचड़ से पटी हैं। इन्हें अब पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सावधानी से और कई बार खूब साफ करने की जरूरत है। और जब ये साफ रहेंगी तो मनोजगत की गति का थोड़ा सा अंश भी इनमें बहकर सारे शरीर को सींच जाया करेगा। और नहीं तो अच्छा पानी भी काफी तादाद और तीव्र गति से आया हुआ पानी भी, इनमें रुककर सड़ेगा और तरह तरह के घिनौने कीड़ों को जन्म देगा।

'लेकिन 'ब्रेक' तो ऐसे ही बहुत ढीले हैं भाई देखते नहीं आप। सड़कों पर, गलियों में ट्रेनों में प्लेटफार्म पर सिनेमाघरों में सर्वत्र छेड़छाड़ धक्का धुक्की मची रहती है सीटियाँ बजती हैं बोलियाँ कसी जाती हैं। इतना ही नहीं, बहुत निचले स्तर पर उतरकर पाशविक व्यवहार भी होते ही रहते हैं। इस पर भी आप 'ब्रेक' ढीला करने की बात करते हैं ?"

ये भूले हुए लोग हैं जो जिन्दगी को पशु धरातल पर भोगने की क्रिया से ही परिचित हैं। इनका प्रेम, सेक्स, दोस्ती मित्रता सभी कुछ सड़ी हुई नालियों में बहते कीटाणुओं से प्रेरित होता है। असल में इनका दोष भी नहीं है। सामाजिक 'ब्रेक्स' ने जिन गन्दी प्रणालिकाओं यानी नालिकाओं का निर्माण किया है, ये उसी की उपज हैं। आप मनोजगत के अनेक आवश्यक तत्त्वों को जो गति के ही रूप हैं यदि वर्ज्य और अस्पृश्य मान लेंगे तो धीरे धीरे स्वच्छ पानी भी सड़ने लगेगा ही। यदि आपके समाज में मनोजगत के स्तर पर भोगे

सर्वं प्रिये चारुतर वसन्ते

बीसवी शती की भारतीय प्रिया इस शीर्षक को सुनकर क्या कहेगी ? यदि एकदम से आधुनिका हुई तो शायद यह कि तुम पागल हो। यथार्थवादी हुई तो यह कि तुम भावुक हो, और कही बहुत सहनशील, भारतीय परम्परा म पली पति की दासी यानी उसे परमेश्वर मानने वाली हुई तो यह कि मुझे घर के कामकाज से इतनी फुसत नही कि आपकी निठल्लेपन की बातों को सुन सुनकर मन को परितोष दू। यानी बेचारे कालिदास ऐसे चक्रव्यूह म फँसे हैं कि उनका इतना रमणीय वाक्य आज सबके लिए निरथक हो गया है। प्रत्येक साल यही सुनता हू कि इस बार की होली फीकी गई। कही चीनी का रोना तो कहीं तेल घी का। कही अपार महँगाइ का रोना तो कही लगातार सूखे से सन्तप्त लोगो का दव की निठुराई को कोसना। यही हर साल चलता है, पर होली है कि हजारा बार हो ली, पर होनी को बन्द करने का नाम ही नही लेती।

वस तो हिन्दू ससार के सबसे अधिक त्योहारप्रिय लोग हैं, किन्तु इन त्योहारो में भी होली का जवाब नही। दुनिया मे ऐसा अजीबोगरीब त्योहार शायद ही कही मनाया जाता हो। सुना है कि अन्य कई देशो मे भी नवान्न पूजन के अवसर पर, नई फसल कटने के समय इसी तरह के त्योहार मनाए जाते है। अो दोई ने हिन्दू मनस, कस्टम्स एण्ड सेरीमनीज म इस तरह के कुछ विदेशी त्योहारा का जिक्र किया है, कही-कही रग डालने आदि की प्रथा भी चलती है पर 'कीचड प्रसाधन' का जसा मनोहर दृश्य भारत मे होता है वसा अन्यत्र शायद ही होता हो। कीचड गाली-गलौज, अश्लील बातें और सब के ऊपर बरसाने का दण्ड-युद्ध। क्या बातें है ? होली मानो एक से एक निम्नतर कही जाने वाली बातो को प्रियतर बनाकर उपस्थित करने का पव है।

पता नही आप इसके शजरे म रुचि रखते हैं या नही, पर मैंने जब भी होली को भारत क प्राचीन मदनोत्सव से जोडने की कोशिश की है, एक अजीब

अपाट अन्तर से मन खिन्न हो जाता रहा है। कहाँ तो प्राचीन कवियों की दुलारा ऋतुराज वसन्त और वैभव और सम्पन्नता के साथ कम्बोजी सुरा के मादक वातावरण में मदनोत्सव का अनुष्ठान और कहाँ आज की कीचड़-कदम, गाली गलौज भरी महँगाई से सिसकती और दव को कोसती बेचारी होली। प्राचीन उत्सव मानो वैभव की देवी महालक्ष्मी की सन्निधि में स्वयं रति के हाथों सम्पन्न होता था जब कि आज का पर्व रिक्तता की महादेवी के सम्पर्क में धूमावती द्वारा आयोजित किया जाता है।

मैं इन दोनों पहलुओं में कहीं तालमेल न ढूढ़ सकने की अपनी असमर्थता पर खीझता हूँ। लगता है वे लोग कल्पना लोक के भूठे जीव थे जो अपनी मनश्शान्ति के लिए एक मादक ऐन्द्रजालिक दुनिया गढ़ लेते थे।

आ गया आ गया लो प्यारी आम की ताबियाँ मोजरों के पने बाणों की भ्रमरमाला की डोरी पर चढ़ाए सम्भोगप्रिय रसिक जनों के चित्त को उद्दीप्त करने वाला वसन्त आ गया। वन फूलों से आच्छादित हो गए। कमल खिल गए। स्त्रियों के शरीर में काम की मादकता जग गई। हवा सुगन्धित हो गई। साँझें सुहावनी और दिन लुभावने लगने लगे। वाह क्या छटा है —

द्रुमा सपुष्पा सलिलं सपद्मं स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः।
सुखाः प्रदोषा दिवसाश्च रम्याः सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते॥

बेचारे कालिदास ने ऋतुसंहार में वसन्त वर्णन के कुल अट्ठाईस श्लोकों में एक ऐसे रम्य ऋतु की अवतारणा की है जिसमें रेशमी परिधान पृथुल नितम्बों पर झलती रुनक झुनक करती काँची, केसर लिप्त पयोधर चंचल काले अगुरु सुवासित बालों में गुँथे अशोक और नवमल्लिका के फूल, कानों में झनते मणि कार के गुच्छे कालागरु के धुएँ से सुवासित महीन वस्त्र स्तनों पर लटकते आब दार मोती के शीतल हार कोकिल की कूक और भौरों की गुंजार से मलमाया वातावरण किस शृंगार की दीक्षा नहीं देता? इसीलिए यदि महाकवि वसन्त को शृंगारदीक्षागुरु कहकर सम्मानित करते हैं तो अपने हिसाब से कोई अनुचित नहीं करते। इस छोटे-से ग्रन्थ में पन्द्रह बार मदन देवता का स्मरण और अन्त में उसकी स्तुति अस्वाभाविक क्या मानी जाए।

— 'जाने व कस लाग थ जिनक'

यह सब देखकर और क्या कहा जा सकता है? कालिदास की रम्य दुनिया में सर्वत्र अभिजात संस्कृति की परिष्कारिता छाई हुई है। उसमें न कीचड़ कांदो है न गाली-गलौज और न ही कोई अम्लानता या उपहास। कुछ उपहास है तो उनके हिसाब में ही यानी मिस्टर न्यदवपनानि माल्रोण तक ही ताकि वह अपनापन रहकर भी उनके सार मनस्या का मगी-नहीं साम सब।

मदन देवता और उसकी साधना के दीक्षागुरु वसन्त की जाना बहुत पुरानी

है। वसे तो ससार की कोई सस्कृति नही जो मदन देवता को नाना प्रकार की शृखलाग्रो म बाँधकर निश्चेष्ट रखने की शिक्षा न दती हो। बहुत कोमल शरीर है शायद, इसी से बहुत कडे बन्धनो की बात कही गई है। हमारे देश मे वे शिव को तपश्चर्या से विरत करने के अपराध मे दडित हुए, अगहीन होकर अनग बने, तो पश्चिम म उनके समानधर्मा देवता एरोस की पाँखें कुतरने की भी कम कोशिश नही हुई। जी, विलसन नाइट 'द क्रिश्चियन रेनसाँ म चाहे लाख लिखे कि महान देवता एरोस अपने पख फलाए हुए हमारे ऊपर मँडरा रहे हैं ताकि आवरण का उचित स्थान पा सकें, पर क्या अब तक उन्हें उचित स्थान मिला ? नही मिला। इसीलिए तो मदन अगहीन होकर भी किसी के चित्त को वासना से दग्ध किए बिना छोडता नही और एरोस ने ठीक ईडेन के बगीचे मे प्रथम नर और नारी को अभिशप्त फल का स्वाद चखने के लिए विवश कर दिया।

म सोचता हूँ कि यदि मदन अनग न हुआ होता तो कितना अच्छा था। सामने आता। बातचीत होती। सोच समझ कर शत्रुता या मित्रता पदा की जाती। इकरारनामे होते। कुछ घात प्रतिघात चलते, कम से कम लुका छिपी वाली हमलावर स्थिति तो न आती, पर नही, हम इसम विश्वास नही करते। हम बहुत बडे आदशवादी हैं। हम बहुत ऊँचे उठना है, यदि इस उत्थान मे सीढी भी लड जाए तो हम उसे भी तोड-ताडकर जला डालगे।

सो शिव न सीढी ही जला दी। पर सीढी जलकर क्रेन म बदल गई। पहले लोग सीढी पर चढते थे, अब क्रेन उठाकर खुद ही कही का कही धर देता है। रगडो रगडो, जलाओ जलाओ, मारो मारो क नारे उठते रह और मदन देवता थे कि मनुष्य क मन के लतागह्वर म छिपे चैन की बासुरी बजाते रहे। आखिर तुम अपने को समझते क्या हो ? मनुष्य ही हो न ! वही पचभौतिक काया रक्त, मास मज्जा के बने मनुष्य कि कुछ और ? मदन देवता जब अपने सुनहले पख फलाकर आकाश मे उडता है तब पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति हजार गुना बढ जाती है। उसके पखो की मरमराहट से चलने वाली हवा बावरी होकर वनस्पति जगत में ऐसा खिलवाड मचाती है कि हजार साल के उकठे धूनी रमाते पेड कन्धे से फूल पडते हैं। डालें पुष्पो क भार से लच जाती हैं। ससार एक अनजाने सुखद आघात स थरथरा उठता है। चेतन तो चतन, जड पदाथ तक एक विचित्र प्रकार की रहस्यलीला म खो जाते हैं। तुलसी बाबा उसकी शक्ति को जानते थे। सो लिख गए —

सब के हृदय मदन अभिलाखा।
लता निहारि नवहि तरु साखा॥
नदी उमगि अबुधि कह धाई।
सगम करहिं तलाब तलाई॥

जहँ असि दसा जड़न्ह कै बरनी।
को कहि सकइ सचेतन करनी॥

मदन कोई मामूली देवता नहीं है। इस संसार में ऐसे कितने हैं जो इस महाशक्ति के प्रबल आक्रमण को सह सकें!

होनिहार का करतार को, रखवार जग, खरभर परा।
दुइ माथ केहि रतिनाथ, जेहि कहुँ, कोपि कर धनु सर धरा॥

ऐसा है यह विकट देवता, ऐसी है उसकी दुर्दमनीय इच्छाशक्ति जो किसी को भी अपनी इच्छा के भीतर नहीं रहने देती। ऐसे देवता से लड़ाई करके मनुष्य का मन या तो श्मशान बनेगा या फिर असंख्य कोमल भावनाओं की मुदघट्टी। सो चाहे वेद कहे चाहे न कहे चाहे श्रुतिसम्मत हो चाहे न हो चाहे धर्मशास्त्र में व्यवस्था हो चाहे न हो प्रकृति के साथ उसके प्रत्येक पद-संचार में पद मिलाकर चलने वाला मनुष्य अपने आप प्रकृति की रसमयता में प्रकृति के समान कंधे से फूल पड़ने के लिए विवश होता रहा। हो सकता है कि वेद को न मानकर लवेद को मानने वालों ने इस उत्सव को जन्म दे दिया। पता नहीं इसी से चिढ़ कर या क्यों इसे शूद्रों का उत्सव कहने की एक दुकड़ही परिपाटी भी चल पड़ी।

शुरू में एक अभिजात मदनोत्सव या सुवसन्तक रहा होगा उसी के साथ जनता का अपना कीचड़ काँदो वाला अकुंठ नर्तन भी। कालिदास की दुनिया से वह अलग दुनिया थी। वहाँ रेशमी परिधान नहीं थे, केशरमंडित स्तनों पर झूलते मुक्तादाम नहीं थे अमीरों के सौध और भोग के बहुमूल्य उपकरण नहीं थे, वहाँ था उन्मुक्त प्रकृति का वातावरण खेत, खलिहान, पशु पक्षी, गाय गोबर, कीचड़ पानी। इसीलिए होली का उत्सव 'ऋतु संहार' या 'कथासरित सागर' में नहीं 'गाथा सप्तशती' में ढूँढ़ना चाहिए।

फग्गच्छणणिद्दोस केण वि कद्दमपसाहण दिण्ण थण जल समुह पल्लोट्ट त सअघोऊ किणो धुअसि। (४।६६)

—यदि किसी ने वक्ष पर कर्दम प्रसाधन कर ही दिया तो, बावरी, वह अपने आप पसीने से धुल गया है फिर काहे धो रही है। यह तो फगुवा के उत्सव का निर्दोष फल है इसमें परेशान होने की क्या जरूरत!

दोष तो कीचड़ को मन में तहिया-तहिया कर जमा जमा कर रखने में है। उसे किसी खास दिन निकालकर उसके कुप्रभावों से बच जाना यही स्वास्थ्य का लक्षण है। इसे हमारी लोक संस्कृति अच्छी तरह जानती थी। और यह सब गाली गलौज क्या यहीं होता है! यह समूची विश्व व्यापी लोक संस्कृति की विशेषता थी कि किसी एक दिन वर्ष भर के कूड़े-करवार को जला दो और

मन म जमे हुए मल को निकाल निकालकर बाहर फेंककर स्वच्छ बन जाओ। यही लोक संस्कृति की सजीवनी धारा की विशेषता है। चाहे वे उत्सव सुवसन्तक या मदनोत्सव के नाम से मनाए जाते रहे हो, चाहे यूनान और रोम के फेस्टम स्टूलटोरम या मेत्रोनेलिया हो, चाहे ये भारत के होली या फगुवा हो चाहे 'कार्निवल' या 'फूल्स डे' हो, प्रवृत्ति सब के भीतर एक ही थी यानी प्रकृति की उन्मुक्तता के समय एक दिन के लिए सभी कायदे-कानून, आचार विचार ताक पर रखकर उन्मुक्त हो जाना। यही उन्मुक्तता मनुष्य को सारे झंझावात मे जीते रहने के लिए सम्बल देती रही।

मध्यकाल मे भक्ति आन्दोलन के समय लगता है इसमे कुछ सुधार ले आने की प्रवृत्ति जुडी। यह शायद इसलिए कि भारतीय साधना मे माधुर्य प्रेम या शृंगार को उसका उचित प्राप्य देने की शक्ति सिर्फ कृष्णभक्ति मे निहित थी। काम जलकर आखिर हुआ तो कृष्ण का पुत्र ही। इसीलिए जब भक्ति का इन्द्रधनुषी चदोवा उत्तर भारत पर लहराने लगा और जयदेव के मदनमोहन सरस वसन्ते विहार करने लगे तो अचानक होली के साथ दोलोत्सव भी इसमे आकर जुट गया। 'हरिभक्ति विलास' जैसे ग्रन्थो मे होली को एक सास्कृतिक परिधान देने का प्रयत्न किया गया। 'कालिकापुराण' 'मत्स्यपुराण' और 'पद्म पुराण' मे मदनपूजा की व्यवस्था मिलती है। कृष्ण के प्रीत्यर्थ मदनोत्सव का मडान उनके चरणो मे अपरिमित भक्ति का उत्पादक बताया गया है। गोपाल यन्त्र पर मदन देवता के विराजमान होने का यही रहस्य है। कामगायत्री और कृष्णगायत्री म ही क्या भेद है ?

पर लाख चेष्टा करने पर भी कदम काँदो वाली प्रथा को मिटाना सम्भव नही हुआ। होता भी कैसे ? लोक संस्कृति अपने रास्ते नही बदला करती। उसम से जो अच्छा लगे चुन लो यह उसे मजूर है उसे सजाकर अपनी सास्कृतिकता का रोब लो इसमे भी उसे इन्कार नही, पर उसकी धारा ही बदल दो यह वह बर्दाश्त नही करती। कृष्णभक्ति से प्रेरित वृन्दावन और बरसाने की होली मे 'लकुट' भी जुड गया। नारी और पुरुष की सेनाओ के बीच लकुट युद्ध। क्या मजेदार चीज है। प्रेम का और वह भी बाधाबन्धविहीन' युगल प्रेम का इससे अच्छा प्रदर्शन और क्या हो सकता है। बडे-बडे किस्से प्रचलित हैं इस लकुट-युद्ध के सम्बन्ध मे। आज भी अनेक लोग सिर्फ यह 'मजेदार घटना' देखने के लिए ही होली के अवसर पर ब्रज की यात्रा करते है पर इसके पीछे छिपे अर्थ और उसकी परम्परा को जानने की कभी कोशिश नही की गई।

वस्तुत लकुट चालन बरसाने की स्त्रियाँ ही करती हैं नन्दगाँव के गोस्वामी तो मार सहते हैं। जरा लकुट हिला डुला दिया तो क्या हुआ, मुख्य कोशिश अपने को बचाने की ही होती है। कम से कम अपने देश म एक तो ऐसी जगह

है जहा ग्रौरतो के हाथ म मर्दों को ठीक करने के लिए डडा दिखाई पडता है, वरना 'ताडन की ग्रधिकारी तो सवत्र स्त्रिया ही बनती रही है। एक दिन के लिए ता भला ग्रबला को सबला बनने का ग्रवसर दीजिए।

'गाथा सप्तशती मे भी इसी से मिलते जुलते एक रिवाज का उल्लेख मिलता है। विवाह के ठीक बाद वर की मावजें वर वधू को गाव के बाहर किसी उद्यान मे ल जाती है जहाँ ग्राम्र वक्ष की पतली पतली शाखाएँ तोड कर एक-दूसरे के हाथ म दे दी जाती हैं ग्रौर उनसे एक दूसरे को मारने के लिए कहा जाता है। (डा० परमान द शास्त्री गाथा सप्तशती पष्ठ ५१) इसी प्रकार का एक रिवाज प्राचीन भारत मे भी प्रचलित था। वस तोत्सव मे देवर भौजाई एक दूसरे पर पुष्पित ग्राम्रशाखाग्रो से प्रहार करते थे। इसक पीछे कौन सा ग्रसामान्य मनोविज्ञान छिपा है इसका निणय तो मनोविज्ञानवेत्ता ही करेंगे, परन्तु मैं इसमे किसी भी प्रकार की ताडनोद्रेक ग्र थि (सडो मसोचिज्म) का ग्राभास भी नही देखता। इस तरह की ग्र थि ग्राजकल की ग्राधुनिकतावादी फशनेबल सभ्यता की देन होती है जहाँ मनुष्य की कामशक्ति ग्रतिशय दुरुपयोग के कारण विकृत रूप ले लेती है। इस ग्र थि की सम्भावनाए बीसवी शती की ग्रति नवीनतावादी विचारधाराग्रा से प्रेरित बुभुक्षित वासना के शिकार नव युवका म तो की जा सकती है प्राचीन भारत के ग्रद्धसभ्य ग्रामीणो म उसकी झलक देखना मनोविज्ञान का मजाक ही होगा।

होली के ग्रवसर पर जो कुछ भी नग्नता, हुडदग, गाली गलौज या कबीर जोगीडा (इसका एक ग्रलग सास्कृतिक इतिहास है) ग्रादि प्रचलित हैं वे सभ्यता के लक्षण भले ही न माने जाए, सभ्यता को गलीज मे बदलने से रोकने वाले निर्दोष ग्रपराध ही कहे जा सकते हैं।

इसम कोई शक नहीं कि यदि मध्ययुग के कृष्णभक्त कविया ने इस उत्सव को सहष ग्रपनाकर इस साहित्यिक परिधान दने की कोशिश न की होती तो ग्राज की होली ग्रौर भी फीकी हो जाती। इसीलिए सकल भुवन को मोहित करने वाल कामदेव को भी ग्रपनी मोहिनी से वशीभूत कर लेने वाल श्रीकृष्ण को इस ग्रवसर पर भुलाया नही जा सकता—

वन्दे मदनगोपाल कगोराकारमदभुतम।
यमाहुर्यो वनोविमन्ने श्रीमन्मदनमोहनम॥

बबुआप्रिय बिब्बोक बिब्बो बसन्ते

प्रिय जोशी जी महाराज, जयशंकर! आप मुझे ठोंक पीटकर त्योहारी लेखक न बनाइए, मुझ पर नही तो भगवान के लिए अपने पर रहम खाइए। इस इन्दिरा मन्वन्तर के उन्नीस सौ सत्तर ईसवी म पत्रिका को 'पापुलर' बनाने के तौर-तरीके छोडकर, उसे भारी भरकम ऊब भर निबन्धो से बोझिल करके वसन्त के मौसम म अपना पत्ता न कटाइए या तुडवाइए।

मेरी समझ म नही आता कि मैं होली पर क्या लिखू। होली मसखरो का त्योहार है और मुझे दो चीज़ो से सख्त नफरत है—मिनी स्कर्ट और मसखरी। आप चाहते हैं कि मैं आपको होली पर एक फडकता हुआ लेख भेजू आपकी शब्दावली म 'रम्य रम्या उफ अलग अलग वैतरणी की पटनहिया भौजी?" आप पटना गए हैं कभी? आपने पटना के लोगो को समझ क्या रखा है? जनाब, वह कनाट प्लेस के मिनी स्कर्ट वालियों का शहर नही है किसी जमाने मे वहां एक थे नलिन जी। शरीर ऐसा कि देखने वाले दहलकर रास्ता छोड देते थे और दिल ऐसा कि जरा सा स्पर्श हुआ नही कि आपको कितने नीचे डुबकियां लगानी होगी जानना मुश्किल था। मैंने 'निराला' के बाद हिन्दी मे ऐसा मनुष्य दुबारा नही देखा जो गद्य मे पद्य म समाम्यस्त' यानी शास्त्र की कटकाकीण ऊबड खाबड जमीन हो या साहित्य की रम्य रम्या 'मृदूत्तरछदवती' मुलायम शय्या सरस्वती उनके साथ सवत्र समान रूप मे विहार करती थी, ऐसे थे वह विहारी, सो बबुआ जी उन्होंने एक रचना लिखी है 'बिम्बो का बिब्बोक!" उसी की कुछ पत्तियां हैं। मुलाहिजा हो —

बिब्बो ने कहा एक दिन,
मुझे चाहिए गगन-सुमन चुन लो।'
उसके जूडे मे गुंथे फूल थे। ले लिया
उन्हें बोला— हाजिर है चुन लो।'

बिब्बो बोली— मेरे काले कुन्तल
आकाश रूप, घूम, घूम हैं क्यों ?
कवि हैं न ? उसने पूछा लिया गाल
आकाश उसके होते ही हैं घूमल ।

तो बबुआ घूम घूम का मतलब समझे ? ऐसा होता है बिब्बो का बिब्बोक। आपको 'गगन सुमन' की परेशानी दूर करने के लिए कनाट प्लेस की किसी दूकान से अधिक से अधिक प्लास्टिक के फूल ले आने की सिफारिश समय हो सकती है। घूम, घूम घूमा लिया गया यार है !

आप यह न समझें कि मैं अभिजात्यनीय (अपने सुधार से) दिल्ली की निन्दा कर रहा हूँ। मैं तो दिल्ली की खूबसूरती पर फिदा हूँ कि न सही 'गगन-सुमन खरगोश की सींग की तलाश यहाँ बाकायदा जारी है।

भाई जान मैं आपसे सही कह रहा हूँ गालिब जी को भी दिल्ली पसन्द थी। वैसे यह दीगर बात है कि आपको बिब्बोक का मतलब ही न मालूम हो। आप हिन्दी पत्रिका के सम्पादक हैं जहाँ कार्यालय में शब्दकोष रखना भी शान के खिलाफ माना जाता है। और फिर यह शब्द भी काफी पुराना पड़ गया। पुराने दकियानूस लोग ऐसे शब्दों पर लट्टू या कहिए फिरकी बने घूमा करते थे। वैसे अब यह शब्द बहुत ज्यादा मध्ययुगीन हो गया है क्योंकि मेरे एक सहयुनिवर्सिटी मित्र ने एक दिन पूछा, भई बिब्बोक क्या चीज है भला। हालाँकि उन्होंने रीतिकाल पर डाक्टरेट ली है। मैंने उन्हें माघ कवि का एक श्लोक पढ़ सुनाया

किं तावत सरसि सरोजमेतदारा
दाहोस्विन्मुखमवभासते तरुण्या
संशय्य क्षणमिति निश्चिकाय कश्चि—
बिब्बोकैर्बकसहवासिनां परोक्षै —शिशुपालवध, ८।२६

तो हे बबुआ जी, कृपया बिब्बोक मे न आइए, क्योंकि आपको मैं निश्चित ही बकसहवासी पंक्तियों म गिनने की धृष्टता नहीं कर सकता। क्योंकि आप रहते भले ही दिल्ली मे हो हैं आंचलिक आदमी। और आजकल महानगरों में रहनेवाले लोगों की मुसीबत यह है कि

उनिद्रा भोगती रात यह पद्य
नीली पीली गोलियाँ नींद की
बिब्बोक बिब्बो का अनवद्य
छाती पर पुस्तक आड़े जीद की

यह कम्बख्त भी एक सती था। अरे भई जहाँ गेट बहुत स्ट्रेट हो वहाँ घुसने की कोशिश क्यों करते हो। पर हर एक अपना ही राग अलापना चाहता

है। आन्द्रे जीद को क्या सूझी कि उसने राह चलने को टोकने की गलती की, पर की क्योंकि वह समझता था कि राह चलते को टोकना भी कभी-कभी जरूरी होना है। उसने एक ऐसी रम्य रम्या सिरजी कि नायक उसके अगाध मधुकुण्ड म फिसलकर गिर गया। यानी ठीक वही किया जसी मच्छरो को फँसाने क लिए की जाती है। लोहवान का सुर्गा घत धुआँ कमरे म भर जाता है और मतसरी वनि वाला मच्छर सुचिक्कण रेशमी कुहरे पर तरने की इच्छा स गुजार करते हुए उसी म रम जाता है। सेकण्ड भर के अन्दर धुए का चिप चिपापन उसके पखो को एसा सटा देता है कि वेचारा लुठित होकर जमीन पर मुर्गा वनकर पसर जाता है। सो वही हाल उस नायक का था कि मेहमानी करन म लीन हुआ तो हुआ, जाने की सुध ही न रही। बस अपनी नाक की सीध म चलता रहा और मिथुन लीला के रस म डूबा रहा। वह जानता था कि नायिका विब्बोक वाली है, पर प्रतिपगी सहचरी की कमजोरी भी जानता था कि वह 'जाग्रो' जैसा शब्द शायद ही कह पाए। उस रम्या ने सच ही जाग्रो नहीं कहा पर समझा दिया कि जिस दिन वह एक खास रग की स्कट पहनकर नाश्ते की मेज पर उपस्थित हो उसे समझ लेना चाहिए कि जुदाई का वक्त आ गया। हाय वेचारा लवर, वह बलि के बकरे की तरह रोज सोचता रहा कि कहीं आज ही वह स्कट न पहन बैठे। और एक दिन वह रम्या अतिशय रम्या लगती हुई नाश्ते के टेबुल के पास आई तो रूप से विजडित वह ताकता ही चला गया, काफी देर वाद उसने गौर किया कि ऐसी फबन जिस स्कट ने पदा की है वह उसी रग की है जो उसकी जुदाई का ऐलान करने के लिए निश्चित किया गया है। आज पहली वार उसे लगा था कि शरीर की सुन्दरता की भी कितनी ऊँचाई होती है, तभी उसे होश आया कि मलाहत की चाँदनी वरसाने वाली वरिन स्कट उसका रास्ता रोक कर खडी है। उसे वस ही चलते रहने की हरी झण्डी लपेट ली गई है। यानी मुख्तसर यह कि होली खतम। इसी स मैंने कहा कि मुझे 'मिनी स्कट' से सख्त नफरत है।

और क्या यह झूठ है कि होली सचमुच की खतम हो चुकी है! आप न मानें तो मैं क्या मिडटम पोल' कराने की जुरत करूँगा! मैं भला साहित्यकार होकर ऐसी साहसिकता कसे कर पाऊँगा, जिसे देश का एक भी राजनीतिक व्यक्ति झेलने को तयार नही दीखता। जो हो, मैं तो यही मानता हूँ कि इस देश मे भुखमरी, जहालत, गरीबी घूसखोरी, बदफली और बदकारी के माहौल म होली मात्र कमकाण्ड बन कर रह गई है जिसे हम स्वस्तिक के निशान की तरह अपने चेहरे की दीवाल पर चिपकाए मिथ्या कुशल और आनन्द के बोध के लिए ढोते फिर रहे हैं।

पर प्रत्येक वप जब भी मैं इस पव के भीतर से गुजरा हूँ, एक वडा परे-

शान करने वाला सवाल दिमाग मे निरतर घुमडता रहा है, और आज भी जब मैं इस प्रश्नाहत पव पर सोचने बठा हूँ रह रहकर वही सवाल अपनी अनुगूज मे सारी चेतना को गिरफ्त कर लेता है—क्या सचमुच होली कमकाण्ड हो गई है ? क्या आर्थिक स्थितियो के भारी दबाव और जीवन को एकधृष्ट (मोनोटोनस) बनाने वाले मशीनी सम्ब धा के बीच इस पव का कोई अथ नही ? क्या यह चकि प्राणिक उल्लास से सबसे अधिक सम्पक्त पव था इसलिए आज के असगत निष्प्राणता के युग मे पूणत निरथक और बेमानी हो गया है ? मन कहता है कि हाँ ऐसा हो चुका है होली का दिवाला पिट चुका है। इसके उल्लास अभिशप्त प्रवाह अवरुद्ध आन द बाधक और समूह सलाप और सहकम का अवमूल्यन हो गया है। यानी मस्ती पस्ती म बदल गई है।

पर प्रकृति इन सारी धारणाओ की कावन कापी पर हस्ताक्षर करने को जाने क्यो तयार नहा होती। क्यो नही चतुर्दिक फली अमराइयो के मोजर टह नियो से झांकना ब द कर देते ? क्यो नही वना मे अपने आगमन से मुर्गे की कलगी से होड लगाने वाले टेसू अपनी वापसी स्थगित कर देते ? क्यो नही सद हवा मे बस ती गुलाबी की मादकता घोलने वाली सुग ध के झकोरे ठिठक कर रुक जाते ? क्या नही तामिया मोजर को कुटकने से कसले बने अपने कण्ठ की खुजली मिटाने के लिए कूकता कोकिल चुप लगा जाता ? हमारा वश चले तो आज की आधुनिकता और सत्रास को अपनी मध्यकालीन प्रवत्ति से कलकित करने वाल इस पक्षी को 'डायना गन से सदा के लिए खामाश कर दें। आज भी ऐसे फालतू किस्म के अनेक लोग हैं जो रीतिकाल के दकियानूस कवियो के चश्म से सारी प्रकृति को प्रफुल्लतर देखने की कोशिश करते हैं ऐसे लोग ध य हैं जो सारे सुख का सरो सामान इकटठा पाकर भी एक आदमी के अभाव मे सारे वस त को कोसने के लिए बठ जाते हैं—

बौरे रसालन की चढ़ि डारन
कूकत क्वलिया मौन गहै ना।
ठाकुर कु जन कु जन गुजत
भौंरन भीर चुपइवो चहै ना॥
सीतल म द सुगन्धित धीर
समीर लग तन धीर धर ना।
व्याकुल की हो वस त बनाय क
जाय को क त से कोऊ कहै ना॥

अब इन्हें कौन समझाए कि ह दिव मने ही आय कर' की उच्चतर सीमाओं म कुछ मजार की बातें हा गई हैं अनर्नीय म दाम म विश्वास

कीजिए, कोई फर्क नही पडा है। आपको अगर वातावरण इतना परेशान किए हुए है तो एक बैरग चिट्ठी ही डाल दीजिए। क्योकि आखिर इस सकट से उबरने का दूसरा रास्ता भी तो नही है। है और कुछ लोगो के हिसाब से जो रवि बाबू को बहुत मासूम मानते है काफी अच्छा भी है पर कौन जाने आपको पसन्द आए न आए। जी हाँ, जी हाँ, रवि बाबू ने खुद कहा था कि वह बहुत बाद मे जान पाए कि उन्हें मानसिक वयस्कता काफी विलम्ब से प्राप्त हुई—'निर्मल चाँदनी रात थी। शीतल मन्द हवा बह रही थी। कैसा सुहावना दृश्य था, परन्तु मै वहा न था। कल्पना के परो पर बैठा अपने घर की ओर चला जा रहा था, बगाल की दृश्यावली, कलकत्ते की कलरव करती हुई गगा मुझे अपनी ओर खीच रही थी।" उसी वक्त उस 'रम्य रम्या' ने कवि को अपनी ओर खीचने की अनेक कोशिश की। पर कवि वयस्क न थे, या हो सकता है कि 'बकसहवासी कमल की तरह बिब्बोक समझ ही नही पाए और वह वैसे ही कवियाने' मूड मे आख मूदे बैठे रहे। अपने बिब्बोक को निरर्थक होते देख वह रम्या थोडी और नीचे उतरी, उसने कवि को नई युक्ति के जाल मे फँसाने के लिए 'दस्ताना चोरी का खेल' और उसका रहस्य समझाते हुए कहा—रवि। यदि कोई व्यक्ति किसी युवती कुमारी का दस्ताना चुरा लेता है तो उसे उस युवती का चुम्बन करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। वह आरामकुर्सी पर बैठी, आखें मूद अपने दस्ताने की चोरी की प्रतीक्षा करती रही। आँख खोलकर उसने देखा कि दस्ताना वैसे का वैसा उसी जगह रखा हुआ है।

पता नही इसके बाद उसने कवि का किन शब्दो मे अभिनन्दन किया ? यह बिलकुल सही कहानी है बबुआ जी, मजाक नही मैंने कहा न कि मुझे मसखरी पसन्द नही। आप भी इस खेल के बारे मे जानना चाहे तो राजकमल से प्रकाशित श्री दिलीपकुमार राय की 'महापुरुषो के साथ' किताब की पृष्ठ सख्या १५८ देख लीजिए। कितना जोरदार खेल है है न ? दस्ताना चोरी का खेल

अब आप बताइए आपकी सहानुभूति किसके साथ है ? कवि के साथ जो किसी भी कीमत पर अपनी सहचरी प्रकृति के साथ विश्वासघात नहीं करना चाहता ? वह उत्फुल्ल प्रकृति की शोभा को समर्पित है, जिसे चाहें तो दकियानूसी भी कह सकते हैं या उस रम्य रम्या के साथ जिसने समय और स्थान और जीवन की दुर्दमनीय सहजता के कारण एक चटखारी मनोवृत्ति के वशीभूत हो कर, युक्तिपूर्ण क्रीडा का स्वाग रचाया ? रम्य रम्या दोनो ही हैं मित्र ! सवाल है कि तुम किस तरह की रम्यता को पसन्द करते हो ? प्रकृति की या तरुणी की, या दोनो की ?

मनुष्य के हृदय मे प्रेम और वनस्पति के हृदय मे फूल एक ही प्रक्रिया के भिन्न परिणाम हैं। केवल वनस्पति को लेकर ही देखें। होली के मौके पर दो तरह के दृश्य एक साथ दिखाई पडते हैं।

वन उपवन मे चतुर्दिक् वक्षो की फुनगियो पर झूमते रग बिरगे फूल ! और होली की शाम को उन्ही वृक्षो के सूखे या हरे काठ रग बिरगी लपटो वाली चिता म जलते हुए। ये दोनो ही दृश्य वस्तुत एक हा क्रिया व्यापार के परिणाम हैं। अन्तर सिर्फ यह है कि हरे वक्ष ने आग को बाँध लिया था, अपने भीतर उस उत्ताप को जज्ब किए रहा और वही अग्नि फूल बनकर उसकी शाखाओ मे खिल गई। जब वही अग्नि नियन्त्रण से छूट जाती है बहिर्गत हो जाती है, तब गीले काठ तक को जलाकर राख मे बदल देती है। यही है होली का मायाजाल और यही है उसका मन्त्रपूत सन्देश।

चन्द्रमा मनसो जात

आज मन बहुत उदास है। कोई खास बात नही, कोई माहौल भी बुरा नहीं है। मौसम भी अच्छा ही है। आसमान साफ है। नीली-नीली गहराई म तैरते पछी अच्छे लगते हैं। गम धूप शरीर को सुहाती है। सामने खेतों में सरसो फूली है। पीली-पीली मजरियाँ वसन्त के उदय की पूवसूचना दे रही हैं, पर मन उदास है।

यह मन भी बेढब चीज है। यह न तो पृथ्वी के पास है, न समुद्र के। न तो वनस्पतियो के पास है, न पशुप्रो के। यह सिफ मनुष्या के पास है। यानी यह सिफ हमारी 'मनोपली' है। वज्ञानिक कहता है कि यह कुछ नही है। सारा शरीर चीर फाडकर देख चुके, इसका कहीं पता नही चला। दाशनिक कहता है कि वाह, है कसे नही, यही तो चीज है जो पशु से मनुष्य को अलग करती है। अन्नमय प्राणमय कोश पशु के पास भी है। मनुष्य के भी। पर मनुष्य पशु नहीं है क्योंकि उसके पास मनोमय कोश है, जिसे वह चाहे तो विज्ञानमय और आनन्दमय कोशो मे बदल सकता है। यानी मन ही वह चीज है जिसम आगे की सारी सम्भावनाओं के अकुर विद्यमान हैं। बडी बेशकीमती चीज है यह पर लगता है आजकल कही से गडबडा गई है इसी से तो आजकल मन बडा सुस्त है।

पच्चीस दिसम्बर वैसे भी अच्छा दिन है। इस दिन मैं काफी खुश रहने की कोशिश करता रहा हूँ। ठीक से तो याद नही कि यह कोशिश कितने वर्षों से जारी है पर दस बारह वर्षों से जरूर ही मैं इस दिन खुश रहने की कोशिश करता रहा हूँ। बडा महत्त्वपूण दिन है। इस बार इसका महत्त्व थोडा और बढ गया। इसी दिन अपोलो ८ चन्द्रकक्षा मे दस चक्कर लगाकर पृथ्वी की ओर लौट पडा।

चन्द्रमा से सिफ साठ मील की दूरी पर उसके चौगिद दस चक्कर। यानी आखिर को शताब्दियो बाद बल्कि कोटयन्दियो बाद भाजे बूढे मामा को इतने

नजदीक से देख सके। आह, कितना सुन्दर, ऐन्द्रजालिक शीतल, सम्मोहक और *आकर्षक था यह दूरस्थ चन्द्रबिम्ब! संसार के कवियों का परम आत्मीय उप* मान बच्चों का निरन्तर आहूयमान स्वप्न लोक सोने की कटोरियों में दूध भात लाने वाला चन्दा मामा, नारियों का प्रियस्मारक, प्रेमविवधन, प्रेरणास्रोत पुरुषों के झुलसत मस्तिष्क को सहलाने वाला चिरसहचर, प्रेमीयुगल की तटवर्ती *लीलाओं का द्रष्टा और साक्षी सम्पूर्ण जलराशियों को अपने प्रतिबिम्ब से चाँदी* की तरलायित मालाओं में बदलने वाला मडनकार शिल्पी हर भास्वर तेजोदीप्त पुरुष के उत्तमाग में स्थित प्रभामडल और भारतीय दार्शनिकों, तान्त्रिकों, साधकों का प्रिय सोमतत्त्व पहली बार मानव चक्षुओं के इतना नजदीक आ गया *कि हम उसे नग्न यथार्थ और सही ढग से देख सके। यह मनुष्य मन के दुर्विजेय* दृढ सकल्प का ही परिणाम है कि वह रहस्यमय अन्तरिक्ष की सारी बाधाओं का उल्लघन करके चन्द्रमा के पास पहुँच सका। अपोलो-यान का कमाण्डर फ्रैंक बोरमन कहता है कि यह चन्द्रमा गहन स्तब्ध सन्नाटे से भरा बीहड विस्तार *मात्र है इसमें कुछ नही है। यह भद्दी चट्टानों से बने बादलों के पुज सा लगता* है। यह निश्चय ही इतना अनाकर्षक है कि यहाँ कोई रहना नहीं चाहेगा। उसका सहयात्री लॉवेल उससे भी एक कदम आगे बढकर घोषणा करता है—चन्द्रमा का विराट अकेलापन भयोत्पादक है। अन्तरिक्ष की असीम मरुभूमि में सिर्फ *पृथ्वी ही मोहक मरुद्यान सी लगती है। ऐण्डर्स को यह चन्द्रमा बीभत्स लगता* है। कम से कम सुबह और शाम तो सुहावनी होनी ही चाहिए। पर यहाँ की सुबहें और शाम तो और भी खतरनाक हैं क्योंकि उनकी अपेक्षाकृत कम चका चौंध पैदा करने वाली रोशनी में चन्द्रमा की प्राकृतिक वीभत्सता और भी अधिक *भयानक लगती है।*

मीलों गहरे अन्ध क्रेटर, वनस्पतियों से बिलकुल वंचित धूसर मरुविस्तार, सीधी डरावनी पहाड़ियों का अस्थिपंजर हवा की पेटी से रहित नग्न वातावरण जिसमें चमकते तारे अदृश्य दानव के दाहक चक्षुओं की तरह अपलक टकटकी बाँधे ताकते हुए आग उगलता सूर्य और जाने कब के बंजर पड़े वीरान मैदान। यही है हमारी सम्पूर्ण सौन्दर्य चेतना का घनविग्रह चन्द्रमा।

चन्द्रमा का सारा चेहरा अनादिकाल में घटित भीषण उल्कापात से ऐसा विकीर्ण हो गया है कि उस दारुण चेचक से विकृत संसार के सबसे बदसूरत आदमी के चेहरे के समान कहने में भी संकोच का अनुभव होता है।

मैं बात कर रहा था मन की चर्चा करने लगा चन्द्रमा की। भला मन और चन्द्रमा में क्या सम्बन्ध? सम्बन्ध है और बहुत गहरा है। इसी से तो कहा गया था— चन्द्रमा मनसो जातः।'

चन्द्रमा मन से पैदा हुआ। अनेक स्थानों पर चन्द्रमा को विराट पुरुष का

दक्षिण नेत्र कहा गया है। न सिर्फ पुरुषसूक्त में बल्कि उपनिषदों में भी इस धारणा की बार बार आवृत्ति होती है। चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ (मुण्डक २।१।४) गीता में विराटरूप के प्रसंग में भी 'अनन्त बाहुं शशिसूर्यनेत्रं' कहा गया है।

भगवान कृष्ण इस चन्द्रमा पर ऐसे लुभाए कि उन्होंने कहा—"नक्षत्राणामहं शशी।" यानी नक्षत्रों में चन्द्रमा मैं ही हूं। सो यह चन्द्रमा हमारे धर्म, दर्शनादि में बड़ा महत्त्वपूर्ण माना गया है, इसमें सन्देह नहीं। छान्दोग्योपनिषद जिस षोडशी प्रजापति की बात करता है उसमें नवाँ स्थान चन्द्रमा का है। (४४६)

असल में चन्द्रमा सृष्टि का इतना महत्त्वपूर्ण तत्त्व है कि इसकी उपेक्षा की ही नहीं जा सकती। सूर्य और चन्द्र या सोम इन्हीं दो तत्त्वों के विमर्श संघर्ष और समन्वय से सृष्टि की उत्पत्ति बताई गई है। सोम तत्त्व बहुत ही महत्त्वपूर्ण दार्शनिक पारिभाषिक शब्द है। यह सामान्यतया शीतलता, जल, दुग्ध, औषधि—जैसे स्थूल तथा ममता दया वात्सल्य, शालीनता यानी तमाम सौकुमार्य जैसे सूक्ष्म तत्त्वों का स्रोत है। जिमर के शब्दों में— चन्द्रमा जीवन का स्रोत है। यह अपस यानी जल का शासक है। और यही जल सारी सृष्टि में संचरित होकर सभी जीवधारियों का पोषण करता है उन्हें जीवित रखता है। यह चन्द्रोत्पन्न जल वस्तुतः हमारी पृथ्वी के लिए वही अर्थ रखता है जो अमृत देव जगत में। चन्द्रमा से गिरे ओसकण वनस्पतियों का, वनस्पतियाँ दूध का और दूध मनुष्य के भीतर रक्त का निर्माण करता है।

(मिथ्स एण्ड सिम्बल्स इन इण्डियन आर्ट एण्ड सिविलिजेशन, पृ० ६०)

चन्द्रमा या सोमतत्त्व की दार्शनिक व्याख्या में न जाकर हम यदि उसके कुछ पर्यायवाची शब्दों पर विचार कर लें तो चान्द्र तत्त्व का काफी स्पष्टीकरण हो जाएगा। अमर कोश में चन्द्रमा के निम्नलिखित पर्याय दिए गए हैं। हिमांशु यानी शीतलता देने वाला चन्द्रमा, अर्थात जो आह्लाद का मानदण्ड हो। इन्दु जो आर्द्र करे। विधु वह जिससे ज्ञान प्रेरित हो। सुधांशु जो अमृत किरणों वाला है। शुभ्रांशु जो प्रकाशपूर्ण है। ओषधीश, जो वनस्पतियों का स्वामी है जवातृक, यानी वह जो जीवन देता है। सोम वह है जो अमृत स्वरूप है या जो नित्य नूतन (सूयते जायते नवो नवो भवति) होता रहता है। कलानिधि, स्पष्टतः ही कलाओं की महत राशि का नाम है। नक्षत्रेश, शब्द उपर्युक्त गुणों वाले नक्षत्र के लिए सहज ही अभिधेय है।

ऐसे नक्षत्र के परमपुरुष के मन से उत्पन्न होने की बात कितनी अर्थमयी है। मैं सोचता था कि शायद उसने मेरे जैसे उदास मन की स्थिति में इस ग्रह को बनाया होगा पर लगता है कि यह सही नहीं है, इतना आह्लादकारी यन्त्र उदास मन स्थिति की रचना नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो यह जीवनदात

नक्षत्र नही, तमस का पुज होता। पर यह आज तक प्रकाशदायक देवता की तरह पूज्य है। ससार के अनेक अवतार पूण च द्र म जन्मे, ज्ञान को प्राप्त कर सके, और इसी को उन्होंने अपने महापरिनिर्वाण का समय भी चुना।

द्वितीया के चन्द्र का महत्त्व तो कहना ही क्या? वह परम शिव के मस्तक पर विराजमान है। इसका बिम्बात्मक अथ स्पष्ट करते हुए हाइनरिख जिमर कहता है— 'यह अद्धवृत्ताकार क्षीण चन्द्रमा प्रथम वागोद्भव का प्रतीक है। यह सष्टि के सबसे प्रथम और सबसे सूक्ष्म तत्त्व नाद का सूचक है। (मिथ एण्ड सिम्बल्स इन इण्डियन आर्ट एण्ड सिविलिजेशन, प २०५) यह चन्द्रमा हिन्दू और मुसलमान दोनो ही धर्मों का पूजास्पद है।

उसी चन्द्रमा के भयानक रूप की बातें सुनकर आज मन उदास है। पर जब मैं इस उदासी की व्याख्या करता हूँ तब लगता है कि यह कितनी निरथक है। असल मे चन्द्रमा सुन्दर समतल हरे भरे प्रदेशो वाला जनाकीण ग्रह होता तभी उदास होने की बात होती।

सम्पूण पथ्वी को अमत, सोम, शीतलता और जीवन देने वाले ग्रह को ऐसा ही होना पडेगा जसा च द्रमा है। यदि वहाँ स्वय जीवन होता हरियाली होती जल होता जीवधारी होत तो चन्द्रमा का समूचा रसतत्त्व उन्ही के पोषण म खच हो जाता। च द्रमा महान त्यागी भगिनी भक्त ग्रह है, जो सूय से प्राप्त उष्ण अग्निशक्ति को सोम मे बदलकर उसे नि शष भाव से पथ्वी को सौंप देता है। वह स्वय जल रहा है, ऊबड खाबड है वीभत्स है भयानक है धूसर है नीरस है, पर यह इसलिए कि वह अपनी सारी शक्ति किसी और ग्रह के पोषण के लिए उत्सग कर देता है। वह असल म पृथ्वी का फेफडा और हृदय है। क्या फेफडे और हृदय का दृश्य बहुत सुन्दर होता है? किसी भी अस्पताल म इनको देखकर मन घबराने लगता है, पर क्या यह सही नही है कि शरीर मे रक्तसचार और जीवन का अवदान इन्ही की अनवरत अविश्रमित क्रिया के कारण होता रहता है? चन्द्रमा प्रकृति द्वारा निर्मित ऐसा ही य त्र है उसकी भयानकता से कापो मत डरो मत क्योकि उसकी ऐसी गठन इसीलिए है कि तुम्हारे जीवन को अमत देने मे वह सक्षम हो सके। वह वक्र है पर निर तर शिवत्व से सयुक्त है, इसीलिए वन्द्य है—

वन्दे बोधमय नित्य गुरु शकररूपिणम।
यमाश्रितो हि वक्रोपि च द्र सवत्र वद्यते॥

चन्द्र मादन

मन एक ग्रदद मुश्किल ग्रौर ग्रबूझ रुझानो का बडल है। मने बार बार सोचा है कि चत्र प्रतिपदा के चाँद की ग्रपेक्षा फागुनी राकेश को म पसन्द क्यो नही करता ? फागुनी पूनो का चाँद स्वाभाविक रूप स ज्यादा मोहक, मादक ग्रौर मनभावन लगना चाहिए। पर मुझे उसकी ग्रपेक्षा चैत्र प्रतिपदा का यानी रगोत्सव के बाद निकलने वाला चाँद हमेशा ग्राकृष्ट करता है। म ग्रपनी इस मुश्किल पसन्दगी के लिए खुद ग्रपने को ही कोसता रहा हूँ। मैंने ग्रपने से ही ग्रपने मन को बार बार समझाया है। कुछ-कुछ इस तरह

यो तो वष भर मे बारह पूरे चाँद ग्राते हैं, पर फागुनी चाद का नक्शा ही दूसरा होता है। पौढाए मोजरा की खुशबू, नीम ग्रौर पाकड के नये-नये हरि दाभ पत्ता की कोमलता, दिनभर की धूप म नाना रगों के फूलों पर दौडती बौराई हवा की सुस्ताती हुई महकती साँसो म ग्रपनी दूधिया चादनी घोलने वाले फागुनी चन्दा का कोई मुकाबला नहीं। ऐसा न होता भला तो क्या वन्कि ऋषिया को कुत्ते ने काटा था जो वे मधुमास के चाँद को देखते ही कठपुतली की तरह बधे ग्रन्दाज मे हाथ हिला हिलाकर मन्त्रोच्चार मे मग्न हो जाते थे— ग्रय चन्द्र सर्वेषा भूताना मध्वस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु।

इस चन्द्रमा के मधु से भी उनका मन नही भरता था इसलिए तो एक ग्रौर मधु की खोज शुरु हुई। स्वयप्रकाश नाम के हिमायती ग्राय ऋषि मादक ग्रौर नशीली वनस्पति की खोज मे लग गए। उन्हें एक पौधा हाथ लग गया। उसकी पदावार मूल्यवान पवत (क्या बढिया सोचकर नाम दिया) के पादप्रदेश म होती थी। झाडीनुमा इस पौधे की स्याह पत्तियाँ पीसकर, कपड छान करके पी जाती थी। यह मूल्यवान पवत कश्मीर म था, ग्राजकल कुछ नाम बदलकर दिन काट रहा होगा। सो साहब इस मादक पौधे के रस को भी नाम दिया गया 'सोम यानी मधु का निझर चन्द्रमा। इस सोम का पान करते ही ग्राय

ध्यान नहीं, तमस् का पुंज होगा। पर मैं मानता हूँ प्रकाशमान रेखा की तरह पूज्य है। संसार के घोर अन्धकार पूर्ण पन्थ में जो ज्ञान को प्राप्त कर सके, और इसी को उन्होंने महापरिनिर्वाण का मार्ग भी चुना।

द्वितीया के चन्द्र का महत्त्व तो कहना ही क्या? यह परम शिव के मस्तक पर विराजमान है। इसका विश्लेषण करते हुए हाइनरिख ज़िमर कहता है— यह अर्द्धवृत्ताकार क्षीण चन्द्रमा प्रथम बालाद्भुत का प्रतीक है। यह सृष्टि के सबसे प्रथम और सबसे सूक्ष्म तत्त्व नाद का सूचक है। (मिथ एण्ड सिम्बल्स इन इण्डियन आर्ट एण्ड सिविलिजेशन, पृ० २०५) यह चन्द्रमा हिन्दू और मुसलमान दोनों ही धर्मों का पूजास्पद है।

इसी चन्द्रमा के भयानक रूप की बातें सुनकर मन काँप उठता है। पर जब मैं इस उपासना की व्याख्या करता हूँ तब लगता है कि यह कितना निरर्थक है। असल में चन्द्रमा सुन्दर लगता है हरे भरे प्रदेशों वाला जलराशियुक्त यह होता तभी उपासना होने की बात होती।

सम्पूर्ण पृथ्वी को अमृत सोम प्रदान करता और जीवन देने का। यह वैसा ही होता पृथ्वी जैसा चन्द्रमा है। यदि वहाँ स्वयं जीवन होता, हरियाली होती, जल होता, जीवधारी होते तो चन्द्रमा का सम्पूर्ण रसामृत उन्हीं के पोषण में खर्च हो जाता। चन्द्रमा महान् त्यागी भगिनी भक्त ग्रह है जो सूर्य से प्राप्त उष्ण प्रतिच्छवि को शीतल में बदलकर उसे निःस्वार्थ भाव से पृथ्वी को सौंप देता है। वह स्वयं जल रहा है, ऊबड़-खाबड़ है, वीभत्स है, भयानक है, कुरूप है, नीरस है, पर वह इसलिए कि वह अपनी सारी शक्ति किसी और ग्रह के पोषण के लिए उत्सर्ग कर देता है। वह असल में पृथ्वी का फेफड़ा और हृदय है। क्या फेफड़े और हृदय का रूप बहुत सुन्दर होता है? किसी भी अस्पताल में इनको देखकर मन घबराने लगता है पर क्या यह सही नहीं है कि शरीर में रक्तसंचार और जीवन का स्पन्दन इन्हीं की अनवरत अविश्रमित क्रिया के कारण होता रहता है? चन्द्रमा प्रकृति द्वारा निर्मित ऐसा ही यन्त्र है। उसकी भयानकता से काँपो मत, डरो मत, क्योंकि उसकी ऐसी गठन इसीलिए है कि तुम्हारे जीवन को अमृत देने में वह सक्षम हो सके। वह वक्र है पर निरन्तर शिवत्व से संयुक्त है इसीलिए वन्द्य है—

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते॥

चन्द्र मादन

मन एक अदद मुश्किल और अबूझ रुझानों का बंडल है। मैंने बार बार सोचा है कि चैत्र प्रतिपदा के चाँद की अपेक्षा फागुनी राकेश को मैं पसन्द क्यों नहीं करता? फागुनी पूनो का चाँद स्वाभाविक रूप से ज्यादा मोहक, मादक और मनभावन लगना चाहिए। पर मुझे *उसकी अपेक्षा चैत्र प्रतिपदा का यानी रंगोत्सव के बाद निकलने वाला चाँद हमेशा आकृष्ट करता है। मैं अपनी इस* मुश्किल पसन्दगी के लिए खुद अपने को ही कोसता रहा हूँ। मैंने अपने से ही अपने मन को बार बार समझाया है। कुछ-कुछ इस तरह

यों तो वर्ष भर में बारह पूरे चाँद आते हैं, पर फागुनी चाँद का नक्शा ही दूसरा होता है। पौढ़ाए मोजरों की खुशबू नीम और पाकड़ के नये नये हरि ताभ पत्तों की कोमलता, दिनभर की धूप में नाना रंगों के फूलों पर दौड़ती बौराई हवा की सुस्ताती हुई महकती साँसें में अपनी दूधिया चाँदनी घोलने वाले फागुनी चन्दा का कोई मुकाबला नहीं। ऐसा न होता भला तो क्या वन्दि *ऋषियों को कुत्ते ने काटा था जो वे मधुमास के चाँद को देखते ही* कठपुतली की तरह बंधे अन्दाज में हाथ हिला हिलाकर मन्त्रोच्चार में मग्न हो जाते थे—'अय चन्द्र सर्वेषां भूतानां मध्वस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु।'

इस चन्द्रमा के मधु से भी उनका मन नहीं भरता था इसलिए तो एक और मधु की खोज शुरू हुई। स्वयंप्रकाश नाम के हिमायती आर्य ऋषि मादक और नशीली वनस्पति की खोज में लग गए। उन्हें एक पौधा हाथ लग गया। उसकी पैदावार मूलवान पर्वत (क्या बढ़िया सोचकर नाम दिया) के पाददेश में होती थी। झाड़ीनुमा इस पौधे की स्याह पत्तियाँ पीसकर कपड़छान करके पी जाती थीं। *यह मूलवान पर्वत कश्मीर में था, आजकल कुछ नाम बदलकर* दिन काट रहा होगा। सो साहब इस मादक पौधे के रस को भी नाम दिया गया 'सोम' यानी मधु का निर्झर चन्द्रमा। इस सोम का पान करते ही आर्य

ऋषि भौतिक जगत से उठकर अध्यात्म के क्षेत्र में प्रवेश कर जाता था। वह अदृष्टपूर्व रंगों की क्रीडा, अश्रुत स्वरों के माधुर्य और अनिर्वचनीय परानन्द में तल्लीन होकर झूम झूमकर गाने लगता था— सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा।' सोम हम ब्राह्मणों का राजा है। यहाँ राजा शब्द का प्रयोग प्यार की वही इसहा व्यक्त करता है जो बनारसी बोली का रजा।

बहुतेरे काशीवासी नवचे सोम रजा को भंग मानकर अपने को क्रान्त दर्शी ऋषियों की कोटि में बिठाकर आत्मसुख लाभ करते हैं किन्तु यह प्रायः निश्चित सा हो गया है कि आर्यों का सोमरस भंग की तरह सहज उपलब्ध पदार्थ नहीं था। आर्य ऋषि बडी सलोनी तबीयत के होते थे, वे ऐसे सहज उपलब्ध पदार्थ के प्रति इतने भाव विभोर नहीं हो सकते कि उसे पवित्रतम गायों के बदले खरीदें और ऊपर से सोमविक्रेता की स्तुति में कविताएं भी लिखें। गुलेरीजी ने इस सोम को पारसीक मदिरा बताकर थोडी महँगी जरूर किया, पर आर्यों के हाथ से मधु बनाने और उसके सभी तरह के प्रयोगों की जानकारी छीनने की अराष्ट्रीय कोशिश भी की। मैं ऐसी गलती हर्गिज नहीं करना चाहता। छान्दोग्योपनिषद में बडे गर्व से कहा गया है न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः —मतलब यह कि न सिर्फ आर्य मद्य को जानते थे बल्कि उसके अतिचार को रोकते थे। असल में सोम बडी दुर्लभ और कष्ट प्राप्य वस्तु थी। इसे जिस सलोनी ऋषि ने कब और कैसे प्राप्त किया, यह तो मालूम नहीं पर उसके भीतर एक आध्यात्मिक हिप्पी का साहस और सबल जरूर विद्यमान था, इसमें सन्देह नहीं।

जब से अमरिका में 'साइकोडेलिक ड्रग्स' का अनुसंधान और प्रचार हुआ है हमारे ऋषियों की सोमरता से स्पर्धा करने वाली कई वनस्पतियों के नाम लिए जाने लगे हैं। अभी हाल में एक समाचार छपा है कि एक हिप्पी ने दक्षिण अमरिका में एक ऐसे पौध का पता लगाया जिसे उगाकर तुरन्त खा लिया जाए तो ऐसा अद्भुत परामनोवैज्ञानिक नशा चढ़ता है कि स्वप्न में तारे नजर आने लगते हैं और पारलौकिक रंगों की ऐसी बाढ़ उमड़ती है कि इस दुनिया की सारी बहुरंगी इन्द्रधनुषी रंगारंग में डूब जाती है। इसी पौध को यदि उखाडने के कुछ मिनटों बाद खाया जाए तो इसके विष से आदमी मर सकता है।

मादकता और मृत्यु जुड़वाँ बहनें हैं। इस तथ्य को आर्य ऋषि भली भाँति जानते थे। इसलिए उन्होंने दर्शन के सूक्ष्म तत्त्वों से उन्हीं जुड़ी मृत्यु के प्रभाव से बच नहीं सकी। सोम अमृत भी है और विष भी। परामौतिक मनःस्थिति में उड़ सकने का विराम नहीं है इसके लिए वह अमृत है पर जो इन्द्रियग्राह्यों की तृप्ति के लिए इसका उपयोग करना चाहता है उसके लिए

निश्चय ही यह यमद्वार है। इसीलिए ऋषियों ने बड़ी निममता से लिखा कि यह पार्थिवों के लिए नहीं है—

[1] सोम मन्यते पविवान यत सम्पिपन्त्योषधिम।
सोम य ब्रह्माणो विदुर्नतदश्नाति पार्थिव ॥

तो क्या होली की रात का चन्द्रमा या सोम पार्थिवों का मोम है? मेरे ग्रामवासी बाबू फेरूसिंह इसे 'जालिम चाद' कहा करते थे। वह यह सब अपार्थिव ढग से सोचकर नहीं कहते थे। जन्म के कुवारे साठ साल के बुजुर्ग की यह आन्तरिक पीडा मात्र थी जो बहुत ही दारुण लगती। होली की रात शाक्त तान्त्रिकों मे दारुण रात्रि के नाम से जानी जाती है। बहुत से लोग तीन ही प्रसिद्ध रात्रियों को उपासना के योग्य मानते हैं पर दुर्गा सप्तशती की यह पंक्ति या ही नहीं कही गई है

प्रकृतिस्त्व च सवस्य गुणत्रयविभाविनी।
कालरात्रिमहारात्रिर्मोहरात्रिश्च दारुणा ॥

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस प्रसिद्ध रात्रिसूक्त के रचयिता स्वय प्रजापति ब्रह्मा हैं जिन्हें मधु और कैटभ से उत्पन्न भय के कारण परम सत्य का दर्शन होने लगा था। राक्षसों का इतना सुन्दर नाम शायद ही कही आपने देखा हो। मधु माधव का सहोदर और चिरपरिचित मादक तत्त्व है। कैटभ विकृत मादकता या मृत्यु का प्रतीक है। ये दोनों ही विष्णु से परात्पर पुरुष की निद्रा से उत्पन्न हुए। राहु और केतु मधु और कैटभ य सोमतत्त्व को विनष्ट करने वाली वृत्तियां हैं। प्रजापति ब्रह्मा इसे भली भांति जानते थे कि ये शक्तियां अपने चरम उत्कर्ष पर दारुण रात्रि मे प्राप्त होती हैं।

"इस सारे दर्शन और ढेर-सी पहेलियों के बिना भी अपनी रुचि का इजहार किया जा सकता था। आप अभागे हैं जो आपको होली का चान्द पसन्द नही आता।' ऐसा कहकर आप बड़ी आसानी से मेरी रुचि को लघी मार सकते हैं। मैं मानता हूँ कि मनि की तरह रुचि भी मुण्ड मुण्डे भिन्ना होती है। इसलिए मुझे बहन दीजिए कि मुझे होली का चांद अच्छा नही लगता तो फिर होली के बाद वाली रात्रि का क्यो अच्छा लगता है। आपने कभी भण्डासुर का उपाख्यान पढ़ा है। उस असुर का नाम ही था भण्ड। यानी वह अपने युग का 'समाजवाद' था। ऐसा बहुरूपिया कि कब कौन शक्ल बना लगा किसी को पता नहीं। सो पाठकगण, एक बार ऐसा हुआ कि इस भण्डासुर के अत्याचार से पृथ्वी विकम्पित हो गई। यह भण्डासुर असुर नहीं था। सन्तोत्सव, मन्नोत्सव या होली फाग का मुख्य देवता कामदेव ही था। शिव के तृतीय नेत्र से भस्मीभूत वह कपोल के पत्र के वर्ण को राख म बदल गया। गणेश ने उस भस्म को छूकर सजीव कर दिया। उसने घोर तपस्या करके शिव से साठ

हजार वर्ष राज्य करने का वरदान प्राप्त किया। इन वर्षों में उसने जगत् को ऐसा भण्ड किया कि लोग त्राहि त्राहि करने लगे। इन्द्र की तपस्या से प्रसन्न होकर देवी ने ललिता रूप ग्रहण करके इस भण्ड का उद्धार किया। असमयुक्त निर्बाध मदन भण्ड होता है। ललिता त्रिपुर सुन्दरी की कृपा से यह कलुषित मदन सात्त्विक मदन में बदल जाता है। शिव ने मदन को अनाकार भण्ड बनाया, ललिता ने उसे मर्यादित करके कामराज में बदल दिया। असल में होली की रात का चन्द्रमा मादक मदन के भण्ड कार्यों का प्रेरणास्रोत है। यह पंचदशी का चाँद है इसमें षोडशी ललिता त्रिपुर सुन्दरी का माधुर्य नहीं है।

दिन भर के गाली गलौज, सम्मिलन-संघर्षण, भंग-गांजा के बाद क्लान्त होकर शरीर जब सुस्त हो जाता है, तब मन अचानक गहराई में डूब जाता है। उसी वक्त नीम और पाकड़ के हरिअर नये किसलयों के बीच एक हल्का सिन्दूरी चाँद उगता नजर आता है सिन्दूरारुण विग्रह—जिसमें मादकता नहीं, माधुर्य होता है, उष्णता नहीं शैत्य होता है, चण्डता नहीं, सौन्दर्य होता है, इसीलिए यह असली अमृतपूत सोम होता है। मधु से बेहोश करने वाला सोम नहीं। यह काम से दग्ध सोम नहीं है। कामेश्वर सोम है क्योंकि वह षोडशी से अभिषिक्त और सिंचित होता है।

जयाखिलसुराराध्ये जय कामेशि कामदे।
जय ब्रह्ममयी देवि ब्रह्मानन्द रसात्मिके॥

हमारे ग्रामवासी बाबू भैरोसिंह का 'जालिम चाँद' यहाँ आकर एक अजीब कारुणिक तन्द्रा में डूब जाता है। उस वक्त ढोलक पर फागुनी गीत नहीं, चैता के टीस भरे स्वर उभरने लगते हैं —

रहि रहि धननिया चन्दा के निहारे
घइ घइ अँचरवा के छोर
पनिघट पपिहरा पिउ पिउ पुकारे
पियवा गइल कवनी ओर निरमोहिया
छलकल गगरिया मोर

बनारस खो गया है

मुश्किल से शाम के सात बजे हैं। कुहरे का जाल पत्थर कोयले के धुएँ से घना होकर इमारतों पर सड़कों पर, पेड़ों पर और सड़क की बत्तियों पर मैसम रिजम का काला चोगा फैलाने लगा है। बगल से पी० ए० सी० की चीखती हुई ट्रक गुजर रही है। सरेशाम कुत्ते चिल्लाते हैं। स्यार हुग्रा-हुग्रा करते हैं। मरकटी कुतिया रिरियाती है। उसकी ग्रावाज रेंगती चिरया की तरह गुरधाम कालोनी में छा जाती है। कर्फ्यू का साठवां घंटा ग्रब सहानुभूति ग्रौर दया की भावनाग्रों का कत्ल करने लगा है। दोष जिसका हो, स्वार्थ चाहे किसी का सिद्ध हो, मेरे होंठों पर सिर्फ नफरत ग्रौर खीभ की शब्दावली उभरती है— स्साले बेवकूफ ! सारे शहर को रातोरात गमीर कर दिया। ऐसा मौन ग्रौर शरीफ शहर मैंने नहीं देखा।

यह भी कैसा वक्त है ! गाँव गिराँव में भी इस कदर सन्नाटा नहीं होता। इस तरह की दरबा-बन्द जिन्दगी खुद में कितनी भारी लगती है। हमारे जेहन ग्रौर मिजाज सभी कुछ एकांत के विरोधी हैं। हम ग्रादमी चाहिए, ग्रादमी की ग्राँखों में ताकती ग्राँखें चाहिए। ग्रात्मा को छूती ग्रात्मा चाहिए। साँसों को छूती साँसें चाहिए। कहकहे से टकराते कहकहे चाहिए। ग्रपनी बातों को काटनेवाली बातें चाहिए। कटकर धराशायी हुए तर्कों को फिर से ग्रजनबी तर्कों से जूझते रहने की हरारत चाहिए। हमारे दिल दिमाग ग्रौर जिस्म में सिर्फ एक हसरत है जो कभी नहीं मरती। वह है ग्रपने हमशक्ल जानवर से, जिसे इन्सान कहा जाता है मिलते रहने की सहूलियत।

यही सहूलियत, यही ग्राकांक्षा ग्रनादि वासना है। जो सृष्टि के ग्रारम्भ से ग्रादमी के साथ लगी है यह प्राकृतिक भूख है। मनुष्य से मनुष्य का मिलन ही सर्वेप्सित द्वंद्व है। ग्राह कभी-कभी द्वंद्व का ग्रभाव भी कितना बेचैन करता है ! स व नव तस्मादेकाकी रमते, स द्वितीयमैच्छत। कहाँ है वह द्वितीय कहाँ

है द्विवचन, बहुवचन। कमर्यू ने सारी जिन्दगी एकवचन नपुंसक लिंग में बदल दी है। व्याकरण जिन्दगी का इतना सच्चा दस्तावेज ऐसे मौकों पर ही बनता है। शायद वह अपने को प्रमाणित करने के लिए ऐसे ही क्षणों का इंतजार करता है।

इस एकवचन की तनहाई में ही शायद अपना 'होना' भी प्रमाणित होता है। कभी देकार्त ने कहा था 'मैं चूंकि संदेह करता हूं, इसलिए हूं'। पर अब कहना होगा कि मैं चूंकि तनहाई का बोध करता हूं इसलिए हूं।

'मैं हूं' यह वरदान सदृश क्यों लगा गूंजने कानों में।
मैं भी कहने लगा मैं रहूं शाश्वत नभ के गानों में॥

'मैं हूं', 'मैं हूं'—यह कहना शायद कुछ अर्थ नहीं रखता। यदि आपने करीब तीस आदमियों को गोली लगने से तड़प-तड़पकर मरते नहीं देखा है, यदि आपने बच्चे की दवा के लिए जाते हुए बाप को लाठियों से घायल करके पुलिस ट्रक में फेंके जाते हुए नहीं देखा है यदि आपको भारतीय पुलिस के सदव्यवहार का रचमात्र भी अनुभव नहीं है तो आप निःसंदेह 'मैं हूं', 'मैं हूं', कहकर अपने को परितोषित रख सकते हैं। पर मुझे तो रह रहकर अलबेयर कामू के मीरसाल की याद आती है जिसने अंतिम धर्मोपदेश सुनानेवाले पादरी का कालर पकड़कर झिंझोड़ते हुए कहा— सभी इसी तरह अंत में मरने के लिए अभिशप्त है। उनकी भी बारी ऐसे ही आएगी। और इसमें क्या फर्क पड़ता है, तुम हत्या का अभियुक्त बनकर मरो या यह कि मैं अपनी मां के अंतिम संस्कार के वक्त रोया नहीं' मरना एक तरह से अच्छा है क्योंकि इससे तनहाई से छुटकारा मिलता है। आप चाहें तो फिर दोषारोपण कर लीजिए कि मैं कामू काफ्का सार्त्र की बातें ज्यादा करता हूं, किन्तु अपनी आत्मा से पूछिए कि क्या बनारस गोली कांड में जो मरे, वे आपसे कम निर्दोष थे? फिर आप क्यों नहीं मरे? इसलिए कि आकस्मिक था यह कि आप वहां नहीं थे। मरना कभी आकस्मिक नहीं होता। बचना हमेशा आकस्मिक होता है, इसे याद रखिए। जाने दीजिए।

आज मकर संक्रांति है। काशी में इस वर्ष मकर संक्रान्ति के अवसर पर कर्फ्यू लगा हुआ था (यह शब्दचित्र तभी लिखा गया था)। आज सूर्य दक्षिण अयन से निकलकर उत्तर में पदार्पण करता है। आज के दिन वह सौम्यायन में प्रवेश करता है। उत्तरा को लांघकर आकाशगंगा का दुग्धपान करनेवाली श्रावणा से मिलने के लिए व्यग्र हो उठता है। इसी मिलन से वह शक्ति पाता है। आज मरने-जीने की बात नहीं होनी चाहिए।

प्रतिवर्ष मकर संक्रान्ति को सूर्य यही करता है, प्रतिवर्ष इस मिलन का महोत्सव होता है। पर इस बार काशीवासियों के लिए यह एक अद्भुत बोध

का दिवस बन गया— मगर सक्रान्ति के अवसर पर ८ से १० बजे तक कर्फ्यू मे छूट दिवाली के पटाखो की तरह इस ऐलान का खुशी की किलकारियो से स्वागत होता है। गुरुवार के दिन आठ बजे से काशी की सडके फिर रौनक अफरोज हुई और एक बार पुन अलबेयर कामू की ही शब्दावली मे अपने दिल की बात कहने की इजाजत दीजिए—'मेरे लिए इस दस किलोमीटर मे से एक भी ऐसा नही है जो पूर्वस्मतिया की उत्तेजना से भरा न हो। आह यह है वह वासाभी और हरा विशाल ऊँघता शहर—यहा प्रतिष्ठित है वह पुरातन स्थाणु देवता जिसे कभी कोई हिला नही सकता। जो अपने पुत्रो के लिए एकमात्र शरणस्थल है और मैं उन्ही पुत्रो मे एक हूँ।" (रिटन टू तिप्सा) पर मैं कामू की तरह आश्वस्त नही हूँ। क्योकि जब कामू लौटा, तो तिप्सा मे कर्फ्यू नही था। मरे आगे-पीछे आदमियों का हुजम चल रहा है। बच्चो को गोद लिए या कधो पर बैठाए औरतें-मद, उसूल का तोडकर सवारियो स अपने इस्तेमाल की आरज् करते रिक्शेवाले, सक्रानि का दान बटोरने के लिए लगभग दौडती-सी चीखती चिल्लाती डोमिनें। पूरा शहर जैस इन दो घटो मे अपनी जिन्दगी को कोई न कोई नाम देने के लिए कृतसकल्प है। उत्तरवाहिनी गगा के तट पर स्थित सभी घाटों पर अस्सी नाले के सगम से लेकर वरुण-सगम तक भीड ही भीड। मर्द, बच्चे औरतें। औरतो की सख्या सबसे अधिक। मैं सोचता हूँ इन औरतो के बारे में, तो मिर्जा गालिब की याद आती है। होना रहा होगा वह समा रही होगी वे नाजनीन जिन्हें स्नान करते देख गालिब का दिल्ली के कफ्यू स परीशान दिल सकून पा गया होगा। अपनी तनहाई का रोना गालिब ने कब नही रोया पर उनकी ये पक्तिया शायद बेमिसाल हैं—'मैं इस तनहाई म सिर्फ खतो के भरोसे जीता हूँ, यानी जिसका खत आया, मैंने जाना कि वह शख्स तशरीफ लाया।' एसी ही तनहाई स माजूर मिर्जा ने बनारस के घाटो पर नहाती औरतो को देख लिया और उन्हें आलम अर्वाह (परलोक) नजर आने लगा। वे माला के एक सौ आठ मनको की सख्या के छन्दो का 'चिराग-ए दर' (मन्दिर का दीप) लिख गए— रसानद अज अदा-ए शुस्त ओ-शूये। बहर मौजेनवेद व आबरूए।' घाटो की रौनक और गगा की तरगें देखकर गालिब को लगा था कि दिल्ली को काशी से ईर्ष्या हो गई है और मुह म ऐसा पानी भरा कि वहीं की नहर मे बह रहा है—'बनारस रा मगर दीदस्त दर ख्वाब। कि मी गदद ज नह रश दरदहन आब।

पर मुझे आज घाटों पर दहशत और डर स घबराए चेहरे ही चेहरे नजर आते हैं। बदन पानी के भीतर है और दिमाग हवाई हमले के सायरन पर कि कहीं वह कफ्यू म छूट के खात्मे का ऐलान न कर दे। अस्सी की सडक पर साग-सब्जी, पान सुपारी, गुड पट्टी और तिलकुट खरीदनेवालो की भीड

इलाहाबाद के कुम्भ मेले की याद दिला रही है।

'जल्दी बोल भाई नही अबही सार आइ जइहैं अौ दुइ गोजी डाल कै ट्रक मे झोंक दइहैं।" दूकानदार एक सामान्य गन्दे कुचल इसान से कहता है।

"तीन दिन स रिक्शा बन्द हो। पाँच रुपया किलो गुडपट्टी खरीदल हमसे ना सपरी भइया। आध सेर जोन्हरी क लावा तउल दे। सँझरानी हुइ जाई।'

मैं चुपचाप भीड के पीछे खडा हू।

'मुझे उस गरीब रिक्शेवाले से किंचित भी हमदर्दी नही होती। मुझे किसी से हमदर्दी नही है।" एक नये कवि कहते हैं—"कही जाइए। ऐसा धक्कमधुक्का ऐसी ठेलमठेल कि कब आपकी बगल से एक खोपडी उग आएगी, कहना मुश्किल है। ऐसे मे ही साले मारे गए पचासों, मगर तमाशा घुस के देखेंगे' की आदत नहीं छूटी। जाओ साले मरो। करो धक्कमधक्का मचाओ ठेलमठेल।'

पर मुझे सहानुभूति का बोध होता है। मेरे मन मे हमदर्दी जगती है। किसी ओर से नही सिर्फ अपने से। मुझे लगता है कि सडकें सूनी और आदमजात से वचित सिर्फ कुछ देर के लिए हुई थी। मुझे इस भीड से मुहब्बत है इसकी जिन्दा सास बदन को सहलाती है। तनहा इसान के गम को कम करने का यह खयाली पुलाव ही सही, पर इसका भी अपना स्वाद तो है ही। मुझे अचानक अपने नगर की जनता अच्छी लगने लगती है। मुझे गालिब अच्छे लगते हैं। रिक्शेवाले देवता प्रतीत होते हैं। दूकानदार धमराज प्रतीत होते हैं। कुजडे फरिश्ते लगते हैं।

मुझे उस वदिक ऋषि की याद आती है, जो भीड भडक्के स बचने के लिए, पश्यत्सु इहैव गुहायाम का उपदेश दे गए, अभिज्ञान शाकुतलम का शारद्वत याद आता है जिसे नगर का जीवन तेल लगाए हुए आबद्ध अपवित्र की तरह लगा था—'अभ्यक्तमिव स्नात शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम। बद्धमिव स्वगतिजनमिह सुखसगिनवमि।" मुझे इन दोनो के प्रति वितृष्णा होती है। बिना सग का जीवन भी कोई जीवन है? विश्वास न हो तो गुब्बारा लिए दौडते बच्चो की टोली से पूछ लीजिए। आकाशवाणी इलाहाबाद से कल किसान भाइयों के लिए प्रोग्राम आ रहा था। समझाया गया कि कुम्भ मेले म इस साल बहुत अच्छा इतजाम है। कूडा कूडादान मे ही फकिए धूलसनी सडी गली चीजें न खाइए और हैजे का टीका लगाए बगर मेले म न आइए। कोई खो जाए, तो उसकी सूचना भोपू पर दीजिए।

यह सब कुछ समझाने के बाद चौधरी ने मिचन्न भाई से पूछा—'कहो ददुआ, समझ लिहो न?'

सिचन्न भाई इत्मीनान से बोले— खूब समझ लिहा हो भाय। हम जौ *मेला म हेराब तो भोपू पर बोल देब कि हम इहाँ हिरान हैं।" पच लोग*

नुप पर वाण चढ़ाकर क्रोध से प्रमत्त होकर अखिल विश्व
संकल्प करते हैं।
माण धनु साज्य नि न्यसंत पुन पुन ।
राम जगत सब धुनाते यथा ह्रम ॥
मानव की ग्लानि और निष्पन्न क्रोध की समन्वित मा
ती है। उन्ह सामान्य-जन की तरह विलाप करते हुए बार-बार
ए देख लक्ष्मण परेशान होते हैं कि राम को भी रण सम्मुख
ग लैंव पयुपागत यह कसी विडम्बना है। पर यही विडम्बना
प की चोटी म बंधन योग्य सहजता स जोड देती है। सीता
ाट की मनुष्य म बदल दिया और उसी ने एक उत्तर भारतीय
अभेद दर्शिण । एक नये परिचयपत्र निर्माण की प्रेरणा दी।
रण म प्राय अनुपस्थित भारत का यह नक्शा याद आता है, जो
रवरम् तक की धरती को जोड़ने वाले पदचिह्नों की छाप से
रामायणी के लिए प्रत्येक घर म बनने वाले पदचिह्न समूचे रचे
जाते हैं। तभी रामायण शब्द अपनी समूची प्रखरता के साथ उभ
(श्रीराम को नहीं, श्रीराम के अयन को उनकी पद्धति को, उत्त
न को उभारना चाहता था। उत्तरवासी को दक्षिणवासी से
ना था। गंगोत्री के जल स रामेश्वरम का अभिषेक करा चला था।
ाज सेलम म श्रीराम की मूर्ति का अपमान हो रहा है उनका
अपमान हुआ है। लोग क्षुब्ध हैं कि हिन्दू देवताओं का अपमान
लगता है कि किसी लड़के ने धूप पर उभरे पदचिह्नों पर अपने पैर
भ्रान्त से लाचार होकर पत्थर पर अंकित श्रीपद को मिटाने की
ी है। यह एक बचकानी हरकत है बस। इसमें इतना परेशान होना
। दुःख अगर होना है तो इसलिए नहीं कि श्रीराम अपमानित हुए,
लिए कि इस कृत्य को अन्धविश्वास के विरुद्ध आक्रोश कहा गया है।
किस से ? उत्तर से दक्षिण को जोड़नेवाले के प्रति ? दो संस्कृतियों को
र करने के प्रति ? अगर ऐसा है तो यह आक्रोश नहीं, आक्रोश का
है। अन्धविश्वास का विरोध विश्वास का मुखौटा लगाकर नहीं होता।
स कृत्य के दूसरे सिरे पर कुमार कार्तिकेय हुए। कार्तिकेय यानी
ण्यम, पद्मगुरम् स्वामीनाथन कार्तिकेय दूसरे व्यक्ति हैं जिन्होंने उत्तर
दक्षिण को एक ... किया था।
कार्तिकेय का व्य ... करता रहा है। किसी भी
ा के जन्म के प ... के साथ है। कालिदास
ार के जन्म को ... मानते हैं।
के मुख

विश्वास के मुखौटे

सेलम में देवी देवताओं की मूर्तियों के अपमान की घटना से बहुत से लोग क्षुब्ध हैं। बंगाल में राष्ट्रीय नेताओं की मूर्तियाँ भी तोड़ी गईं, नकटी बनाई गईं, कुत्सा और अपमान का विषय बनीं, पर इसकी बहुत तीव्र प्रतिक्रिया नहीं हुई। कुछ भुनभुनाहट जरूर सुनाई पड़ी पर भारतव्यापी क्षोभ नहीं जनमा। मूर्तिभंजन की स्थूल घटनाएँ भारतीय चित्त को हिला देती हैं।

सेलम में देव अपमान के कृत्य के शिकार श्रीराम और श्री कार्तिकेय बने। श्रीराम शुरू से ही मुझे काफी आतंकित करते रहे हैं। वह इतने महान हैं कि हाथ वहाँ तक उठ नहीं पाता। इस अनाकर्षण का कारण वाल्मीकि रामायण की वह भूमिका है जो बड़े ही सपाट और भोंडे ढंग से चरित्रनायक की तलाश का अभियान उपस्थित करती है। सद्गुणों की एक लम्बी तालिका बनाकर वाल्मीकि इस प्रतीक्षा में बैठे हैं कि कोई उन्हें ऐसे व्यक्ति का पता दे कि जहाँ ये सारे सद्गुण एकत्र समुपस्थित हों। नारद उन्हें दाशरथी राम का परिचय देते हैं जिनके व्यक्तित्व में ये सभी गुण पुंजीभूत हैं।

इस राम की नीरस आदर्शवादी विराट छाया के भीतर एक दूसरे राम जन्म लेते हैं जो नारद के नहीं वाल्मीकि के राम हैं, जो मूल से थोड़ा भिन्न होने के कारण हल्की रेखाओं में चित्रित हैं। आलोक रश्मियों का व्यूह कुछ सिमट गया है इसलिए वहाँ मनुष्य का परिचित चेहरा झलकने लगता है। कहीं-कहीं परिस्थितियाँ जब उलझ जाती हैं कवि का आदर्शों में अटका मन शिखर से ढुलककर उस राम की ओर भागने लगता है उस वक्त व्यूह रश्मियाँ प्राय: धुँधलके में बदल जाती हैं तब राम का चेहरा छोटा हो जाता है और वह करीब-करीब सामान्य मनुष्य की ऊँचाई पर स्थित होने के कारण सहजगम्य हो जाता है। इस राम की झाँकी में आसानी से झाँकने की सुविधा मिल जाती है। सीता हरण के बाद विक्षिप्त श्रीराम एक घोर आहत पौरुष की लम्बी निःश्वासें

लेते हैं दूसरी ओर धनुष पर वाण चढाकर क्रोध से प्रमत्त होकर अखिल विश्व को नष्ट कर देने का सकल्प करते हैं।

वीक्ष्यमाण धनु सज्य नि श्वसन्त पुन पुन ।
दग्धुकाम जगत सव युगान्ते यथा हरम ॥

उनकी यह सामान्य मानव की ग्लानि और निष्फल क्रोध की समन्वित मन स्थिति आकृष्ट करती है। उन्हें सामान्य-जन की तरह विलाप करते हुए बार-बार भाग्य को कोसते हुए देख लक्ष्मण परेशान होते हैं कि काल को भी रण सम्मुख ललकारने वाला स दैव पर्युपासते यह कैसी विडम्बना है। पर यही विडम्बना श्रीराम को मनुष्य की बाहो म बँधने योग्य सहजता स जोड देती है। सीता हरण न उस विराट को मनुष्य म बदल दिया और उसी ने एक उत्तर भारतीय राजकुमार को अभेद्य दक्षिण र एक नये परिचयपथ निर्माण की प्रेरणा दी।

मुझे रामायण म प्राय अनुपस्थित भारत का वह नक्शा याद आता है जो अयोध्या स रामेश्वरम तक की धरती को जोडने वाले पदचिह्नो की छाप से अलकृत है। रामनवमी के दिन प्रत्येक घर मे बनने वाले पदचिह्न समूचे नक्शे पर जसे छा जाते हैं। तभी रामायण शब्द अपनी समूची अर्थवत्ता के साथ उभरता है। कवि श्रीराम को नही श्रीराम के अयन को उनकी पद्धति को, उनके पैरो के निशान को उभारना चाहता था। उत्तरकाशी को दक्षिणकाशी से जोडना चाहता था। गगोत्री के जल स रामेश्वरम का अभिषेक करने चला था।

और आज सेलम म श्रीराम की मूर्ति का अपमान हो रहा है, उनका चप्पलों स अपमान हुआ है। लोग क्षुब्ध हैं कि हिन्दू देवताओ का अपमान हुआ। मुझे लगता है कि किसी लडके ने धूल पर उभरे पदचिह्नो पर अपने पर रगडने की आदत से लाचार होकर पत्थर पर अकित श्रीपद्म को मिटाने की कोशिश की है। यह एक बचकानी हरकत है बस। इससे इतना परेशान होना बेकार है। दुख अगर होता है तो इसलिए नही कि श्रीराम अपमानित हुए बल्कि इसलिए कि इस कृत्य को अन्धविश्वासो के विरुद्ध आक्रोश कहा गया है। आक्रोश किस से? उत्तर से दक्षिण को जोडनेवाले के प्रति? दो सस्कृतियो को एकाकार करने के प्रति? अगर ऐसा है तो यह आक्रोश नही, आक्रोश का मुखौटा है। अन्धविश्वास का विरोध विश्वास का मुखौटा लगाकर नही होता।

इस कृत्य के दूसरे शिकार कुमार कार्त्तिकेय हुए। कार्त्तिकेय यानी सुब्रह्मण्यम, षडमुगम स्वामीनाथन। कार्त्तिकेय दूसरे व्यक्ति हैं जिन्होंने उत्तर और दक्षिण को एक सूत्र म बाधने का महान काय किया था।

कार्त्तिकेय का व्यक्तित्व मुझे हमेशा ही आकृष्ट करता रहा है। किसी भी देवता के जन्म के पीछे इतना रहस्य नहीं जैसा कार्त्तिकेय के साथ है। कालिदास कुमार के जन्म को एक विचित्र साहित्यिक सवेदना का स्रोत मानते हैं। औघड

शिव और नसर्गिक सौन्दय की अधिष्ठात्री पावती का मिलन एक समस्या है। इस असाध्य को साध्य बनाने मे काम अनग होता है। देवता निराश होते हैं। तपस्या की अग्नि मे सौन्दय की आहुतियाँ गिरती हैं। समूचे प्रत्यवायो की भीड पार करने म पावती हृदय विदारक अनुभूतियो के दौर से गुजरती हैं। उनके दुख से किन्नरियाँ रोती हैं पवत कुल्याएँ सिर धुनती हैं, शालबन छटपटाते हैं। सपने तपस्विनी को छलते हैं स्वय शिव अग्नि मे सोने को बार बार परखते हैं।

और तब आता है वह क्षण, आशुलभ्य तपस्या का फल—पर वह भी कितना व्यग्यात्मक और हृदयविदारक कि पवतराज पत्नी अपनी शिरीष कोमल पुत्री का हाथ, जो जले हुए कामदेव की लता के प्रथमोदित किसलयो की तरह लाल था श्मशानसेवी शकर के हाथ म देते हुए ग्लानि से विदीर्ण हो जाती है। प्रज्ज्वलित अग्नि के चतुर्दिक प्रदक्षिणा करते हुए वर-वधू का सौन्दय कालिदास को सुमेरु की परिक्रमा करते रात और दिन की याद दिलाने लगता है—

प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुन चकासे।
मेरोरुपान्तेष्विव वतमानमन्योन्यससक्तमहस्त्रियामम ॥

कसी है यह अ यो य ससक्त रात और दिन की प्रदक्षिणा, कसा है सुवण की लपटो में दीप्त सुमेरु—जो बाद मे नव दम्पति की कामक्रीडाओ की केसर गध से क्षण-क्षण नवीन पुलक और रोमाच से अभिनन्दित होता रहता है।

इस महामिलन से उत्पन्न होने वाले कुमार के चतुर्दिक पुन रहस्य का घना जाल तन जाता है। अग्नि की दाहकता गगा की शीतलता और कृतिकाओ की पवित्रता के बीच घूमता पावती का गभ शिशु सरकण्डे के जगल मे अनाथ फेंका हुआ मिलता है कसे क्यो? एक पुत्र को जन्म देने मे छह कृतिकाएँ गगा और पावती—ये आठ स्त्रियाँ और शिव तथा उन्हीं की प्रतिकृति अग्नि ये दो पुरुष। कसा विचित्र है यह जन्म, जहाँ एक साथ अग्नि की दाहकता का द्विगुणित वेग कृतिकाओं के रौद्र तपस से उन्मथित होकर गगा की शीतलता से शान्त हो हिमालय कन्या पावती म अवधान पाता है। इसीलिए सरकण्डे के जगल से पावण चन्द्र के समान सुन्दर शिशु कार्तिकेय को जब पावती उठाकर गोद म लेती हैं तब वात्सल्य रस की तरगो म अमृत की बाढ़ आ जाती है और स्तन्य सुधा से भर जाते हैं।

निसगवात्सल्यरसौघसिक्ता सान्द्रप्रमोदामृतपूरपूर्णा।
तमेत्यपुत्र जगदेकमातान्मुरसङ्गिनि प्रस्नविणी बभूव ॥

यह जगमाता के लकमेवाद्वितीय पुत्र की अनोखी गाथा है। तारकासुर के वध के लिए कुमार का जन्म हुआ था। आसुर शक्ति ने नन्दन वन उजाड दिया था। अमरावती ध्वस्त हो गई थी। स्फटिक के भवन आसुरा गजा के दाँतो की टक्कर म टूट गए थ। सुनन्द कमल सूख गए थ हस मन्दाकिनी छोडकर

उड गए थे। इन्द्र का वैजयन्त महल मकडियो के जालो से भर गया था। देवता हतवीय होकर अपना स्थान छोडकर भाग गए थे। कुमार ने आसुरी बल ध्वस्त करके पुन दिव्यता प्रतिष्ठित की और शरणार्थी बन घूमते देवताओ को उनकी निवास भूमि वापस दिलाई। चारो ओर विजयोल्लास था। देवताओ के मुकुटो म गुथे मन्दार पुष्पो के मकरन्द से कुमार कार्त्तिकेय के चरण अभिषिक्त हुए सुरचूडा रत्नो से वे चरण जगमगा उठे। तत किम।

कुमार कार्त्तिकेय त्रैलोक्यव्यापी इस अभ्यथना के बीच माता पिता को छोडकर हिमालय छोडकर उत्तर भारत छोडकर दक्षिण जाने के लिए विवश हुए। जन्म के साथ उत्पन्न रहस्यो न एक नया खेल रच दिया। इस घटना के बारे म कालिदास मौन हैं, पर नाना पुराण मुखर हैं। भारतीय कृति की यह अदभुत दु ख-सुख मिश्रित घटना है, जो कभी भी भुलाई नही जा सकती।

गणेश और कार्त्तिकेय का झगडा वस्तुत प्राचीन भारत के सयुक्त परिवार के बुरे पक्ष का प्रतीक है। झगडा दोनो के बीच पहले किसका विवाह हो इस बात को लेकर हुआ। यह समस्या का सरलीकरण है। एक तुच्छ प्रश्न खडा करके समस्या आसान करने का बहाना मात्र है। शिव ने दोनो पुत्रो से कहा—पथ्वी की परिक्रमा करके जो पहले लौट आए उसी का विवाह पहले होगा।

मनस्वी कार्त्तिकेय परिक्रमा करने चल पडे तुन्दिल गणेश ने माता पिता की परिक्रमा करके विजय प्राप्त कर ली। सिद्धि और ऋद्धि से उनका विवाह हो गया। माता पिता को ही परम सत्य मान लेने वाले को ऋद्धि सिद्धि मिली। कार्त्तिकेय भी ऐसा कर सकते थे। परम्परा को ही इदमित्थम मानकर वह भी सुविधाए पा सकते थ पर तब पथ्वी उनकी पहचान की सीमा म न आती। लम्बी कष्टसाध्य यात्रा को पूण कर कार्त्तिकेय लौटे। उनके आने के पहले ही निणय हो चुका था। पुराणकम गणेश की बुद्धिमत्ता की प्रशसा करते हैं पर आधुनिक चित्त यह पक्षधरता सह्य नही करता। गणेश आज की उस भीड के प्रतीक बन जाते हैं जो विद्रोह और विरोध को नही, चापलूसी और स्तवन को अभीष्ट साधन का उपाय मानती है। विनायक परम्परा की परिक्रमा करने वाली सुविधाजीवी बुद्धिमत्ता के प्रतीक हैं तो कार्त्तिकेय अपनी आत्मशक्ति पर विश्वास करके कठिन से कठिन परीक्षा मे अपने व्यक्तित्व को परखने की तत्परता रखने वाले निस्सकोच युवा तेवर के प्रतीक बन जाते हैं।

माता पिता की इस पक्षधरता और अन्यायप्रियता के विरुद्ध उन्होने आत्म निर्वासन स्वीकार किया और कैलाश छोडकर क्रौंच पवत (दक्षिण के श्री शैल) पर चले गए। पावती का हृदय अपने पुत्र के वियोग से दु खी हुआ। आग्रह करके शिव को साथ ले वह पुत्र को मनाने चलीं सुतदशन हेतुत गतस्तत्र महाप्रीत्या। श्रीशैल पर शिवदम्पति के पहुँचने के पहले ही कुमार ने वह स्थान

छोड दिया और वहा से और भी दक्षिण मे बस गए। पुत्र के वियोग से ग्लानि पूर्ण आहत मानस लिए उमा महेश्वर वही ठिठके रह गए। मल्लिकार्जुन के रूप मे वे आज तक वही बठे प्रतीक्षा कर रहे हैं, पर कुमार दक्षिण स आने का नाम नही लेते। राम को माता पिता ने निर्वासित किया कार्त्तिकेय खुद निर्वासित बने। और आज उ ही कार्त्तिकेय को जो दक्षिण को अपनाने वाले अद्वितीय देवता थे अपमानित किया जा रहा है। क्या दक्षिण से कार्त्तिकेय को हटाया जा सकता है? कर्णाटक का सुब्रह्मण्य क्षेत्र, शिवकाची का सुब्रह्मण्य मन्दिर, कुम्भकोणम के पास का स्वामिमले तिरुच्चेदुर (तिन्नेवेली) का स्वामिकार्त्तिक मन्दिर कन्याकुमारी के माग म स्थित नागरकोइल के पास का कुमारकोइल पुकार पुकारकर पूछते हैं—कार्त्तिकेय क्या उत्तर भारत लौट जाए? जो काय उस युवा निर्वासित से उसके माता पिता नही करा सके, उसे सेलम के 'क्रान्तिकारी' कराने के लिए आतुर हैं। जो होना हो, हो पर यह सब अन्ध विश्वास तोडने के नाम पर न हो। यहाँ अ धविश्वास नही, सेतुभग किया जा रहा है जो दक्षिण और उत्तर को मिलाता है। असल मे सेलम के तथाकथित विद्रोही, राजनीतिक श दावली मे कहा जाए तो ये हमारी सास्कृतिक एकता के अन्त ध्वसी (सबेटस) हैं जो सकुचित क्षेत्रीयता और कूपमण्डूकता को आधुनिकता और आक्रोश के फलसफे से ढक रहे हैं। ये लोग चिरान्ध रूढिवादिता को छिपाने के लिए विश्वास का मुखौटा लगाकर अ धविश्वास तोडने के झूठे नारे लगा रहे हैं। उनकी यह बचकानी हरकत देखकर बरबस नारदमोह का दृश्य याद आता है। राम और कार्त्तिकेय के प्रति निवेदित जनमानस की श्रद्धा का स्वय वरण करने के इच्छुक ऐसे ही व्यक्तियो को तुलसी ने कुपथ की माँग करने वाले व्याकुल रोगी की तरह कहा था।

मुझे आज रह रहकर दाकर कुरुप की ये पक्तियाँ याद आती हैं—

मेरी कामना है कि
धार्मिक सौम्यता
बनी रहे मानव की आत्मा का प्रतिबिम्ब
क्या उसे भी भेज दिया जाएगा
निष्ठुरता के साथ वनवास में
और कास्य हो जाएगा नोश्रात
कोयले के मुख की कलौंस मे ?

मुझे पूरा विश्वास है कि दक्षिण का अपमान वाद, धार्मिक सौम्यता के ये प्रतीक पुन निर्वासित नहीं होंगे दुबारा वनवास नहीं होगा। मोम्बाटुपल से प्रतिध्वनि उठती है— इन्दिन निमान्समाम भस्मावनय नाम्—यह भस्मात अपचार की उपज है प्रशान्त इस सहन नहीं करगा। तथास्तु।

राह-ए-गुजर याद आया

प्रिय दिनेश भाई,

आपकी चिट्ठी अभी मिली। पहले वालिया पहुँची नही। आपने ठीक ही लिखा है कि मुझे दिल का रोग नहीं वहम है, पर सच कहता हूँ बन्धु कभी कभी यह वहम बहुत राहत देता है। जब भी अखबार उठाता हूँ, वहम जिन्दा होने लगता है। आखिर इस लावारिस कारवा का, जिसे लोग हिन्दुस्तान कहते हैं कोई मकसद भी है या सिर्फ राहे गुजर की याद ही। मैं इधर एक किताब देख रहा था। सन '३५ मे श्री अरविन्द से उनके एक शिष्य ने पूछा कि क्या बगाल मे साम्प्रदायिक दगे बदस्तूर चलते रहेंगे? श्री अरविन्द मौन रहे। शिष्य ने फिर पूछा—"शायद स्वतत्रता के बाद ऐसी चीजें नहीं होगी। पर क्या स्वतत्रता मिलेगी?' श्री अरविन्द ने कहा— स्वतत्रता तो मिल ही जाएगी वह तो हो चुकी है पर सवाल है कि हिन्दुस्तान स्वतत्रता लेकर करेगा क्या? शायद गुडाराज बोलशेविज्म या ऐसा ही कुछ खतरनाक।" और वे चुप हो गए। मैं सोचता हूँ कि यह सब जो उन्होने कहा गलत होता। काश वे बातें इतनी सच न होतीं? यह सब कुछ अपने आधुनिक तर्कपूर्ण तथ्यात्मक जेहन को हिला देता है। मन इन रहस्यवादियो, योगियो मे विश्वास न करने के लिए चौकस तत्पर रहता है तभी किसी पुराने रेकार्ड से कुछ ऐसा झाकने लगता है कि दिल को ठेस लगती है। सारा मस्तिष्क चक्कर खाने लगता है। शिष्य बडा जिद्दी था, उसने फिर पूछा—'क्या अपनी दिव्य शक्ति का कुछ अश बगाल के लिए नहीं देंगे?' श्री अरविन्द ने कहा— मुझे सन्देह है कि बगाल उसे लेना चाहेगा।"

बगाल मे विवेकानन्द रवीन्द्र आशुतोष गांधी आदि की मूर्तियां चित्रों के साथ जो हो रहा है उससे परेशान होकर कुछ लोग अनशन कर रहे हैं। कुछ लोग लोकसभा मे नारे नारावा मचा रहे हैं—मुझे जाने क्या सब समाचार

पत्थर पूजी होती है। क्या बड़े बाप के पालतू ऐसे उसके चित्र पुस्ता पन्नों आदि को रद्दी में नहीं बेच देते? यदि यही काम कुछ लोग हमारे लिए खुद-ब-खुद किए दे रहे हैं तो इससे खुश होना चाहिए। परेशानी की क्या बात इसमें भला। जिन लोगों के कहे पर हमारा विश्वास नहीं रहा, जिनकी बातों को हम काबिल लोग पैरों की बेड़ियाँ मानते हैं या अगर बहुत श्रद्धा हुई तो जलसा के अवसर पर इन चित्रों को स्टेज पर, कूप पर लटकाकर इनकी आड़ में हिन्दुस्तानी जनता की आँखों में धूल झोंकने की बाँगरत हरकतें करते हैं उनके चित्र यदि हटा दिए जाते हैं तो मैं समझता हूँ, यह एक अच्छा काम हो रहा है। इसे और तेज़ी के साथ होना चाहिए। कम से कम इस देश के भाग्य विधाता अपने नामाकूल गले में माला डलवाने के लिए इन चित्रों की शरण तो नहीं ले पायेंगे।

सुना, देश के एक अच्छे म्यूज़ियम से बहुत से चित्रों की चोरी हो गई। एक पत्रिका में खाली टूटी हुई फ्रेमों से ढकी गलरी की दीवाल का फोटो छपा। और मुझे अचानक दिल के रोग का वहम होने लगा। बड़ी सुनसान कादम्बरी की विगतोत्सवा नगरी' की तरह उजाड़ गलरी को देखकर कचोटने वाला दर्द पैदा हो गया। अभी अभी दीवालें सजी थीं अभी अभी खाली हैं। कितना सन्नाटा है। आज से तेईस साल पहले इसी पन्द्रह अगस्त के दिन लाल किले पर राष्ट्रध्वज फहराते हुए नेहरू ने कहा था—'सदियों बाद हिन्दुस्तान जगा है। पर लगता है वह सब झूठा था। तेईस साल से हम लगातार सो रहे हैं। जगना तो बिलकुल बेमानी है। हम ठीक से सोये भी नहीं हैं। सोने में कम से कम अच्छी बुरी किसी भी हरकत का अभाव रहता है। परेशानी से बचे रहते हैं। हम तो तेईस वर्ष से सिर्फ दुःस्वप्न देख रहे हैं। दुःस्वप्नों की एक लम्बी कतार। एक मरियल गाय। मात्र अस्थिपंजरावशिष्ट जो निःशक्त होकर अपने ही गोबर में धँस गई है। उसे हल्ला मचाकर उठाया गया हो जैसे। पेट के नीचे बाँस लगाकर ताने हुए हैं कि खड़ी रहे। उसी की सींगों पर कभी तिरंगा फहराता है कभी भगवा कभी लाल हँसिया हथौड़ा। उसी पर पोस्टर लगाए जाते हैं। कभी देश बचाओ अंग्रेज़ी हटाओ कभी हिन्दुत्व की रक्षा करो कभी शोषण से मज़दूरों को मुक्ति दिलाओ और अब उसी पर बन्दूक की नली से क्रांति के पोस्टर लटकाए जा रहे हैं तो कौनसी आफ्त आ गई। मरने मारने को हुई यह बेचारी गाय जाने क्या सोचती होगी। मुझे तो सिर्फ एक ही दृश्य याद आता है। यह सारा हल्ला गुल्ला इण्डीकेट सिण्डीकेट, लाल सलाम ज़मीन हथियाओ की आवाज़ों से घबराई और बम और पटाखों से डरी हुई यह गाय सिर्फ गोबर किए जा रही है। और नेताओं के बाँस पर या कहिए कूप पर लटकी अन्तिम घड़ियों का इन्तज़ार कर रहा है। हम खुश हैं कि हरी क्रांति

हो रही है। हम खुश हैं कि भिखारी वृत्ति से पिण्ड छूट रहा है, इस देश की आबादी कम करने के लिए एक विज्ञापन छपता है। सिर्फ पाँच पैसे में अपने छोटे परिवार को छोटा कर सकते हैं। 'निरोध'। सिर्फ पाँच पैसे में सारे हिन्दुस्तान ने अपने तन मन को छोटा कर ही लिया। बुद्धि का निरोध तो अद्भुत ढंग का है। विचारों की ऐसी फेमिली प्लानिंग दुनिया में शायद ही कहीं मिले। पाश्चात्य कूड़े-कचड़े में सड़ांध और दलदल में, अथवा भ्रांति की विराट गुफान्री में हमारा बौद्धिक बुद्धि पर निरोध चढ़ाए लगातार उठा बैठकी कर रहा है दंड पेल रहा है, मगर क्या मजाल कि कहीं से कोई नई और सचमुच की कारगर चीज उत्पन्न हो जाय। कितना जबर्दस्त है यह नियोजन। कितना चौकस और निष्प्रयोजन है यह प्रयोजन।

१५ अगस्त एक जाली सिक्का है जिसे हर हिन्दुस्तानी किसी-न किसी को बुद्धू बनाकर चालू कर देना चाहता है। आप चाहते हैं कि मैं आपके विशेषांक में इसे चालू करूँ? मैं चाहता हूँ कि मैं अपनी लेखनी पर निरोध चढ़ा लूँ। क्योंकि आपका विशेषांक और मेरी रचना इस मरियल गाय के गोबर में हमेशा हमेशा के लिए गुम हो जाने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रखते। पन्द्रह अगस्त पहली बार आया तो क्या जलवा था, कैसी सजावट थी, कैसी आराइश थी शहनाई थी, आतिशबाजी थी जैसे राम का विवाह हो, पिछले बाईस साल से हिन्दुस्तान वनवास में है। तुलसीदास कहते हैं—'प्रसन्नता या न गताभिषेक तस्तथा न मम्ले वनवास दुःखत।' अपने लोगों में ऐसी ताकत नहीं कि मुँह को उदास और मलिन होने से बचा सकें। स्थितिप्रज्ञता किसी ज़माने में योगी का लक्षण रही होगी आज हर हिन्दुस्तानी स्थितप्रज्ञ हो गया है। उस हार जीत, सुख-दुःख मान अपमान, हानि-लाभ, जीवन-मरण में कोई अन्तर ही नहीं मालूम होता ऐसे में आप सम्पादकों से मेरी एक अपील है कि मेहरबानी करके आप लोग पन्द्रह अगस्त की या हमारी स्वतन्त्रता की याद न दिलाया करें —

जिन्दगी यों भी तो गुजर ही जाती
क्यों तेरा राहे गुज़र याद आया।

मदन काशी

कहते हैं कि एक बार जब श्रवणकुमार अपने माँ बाप की बहगी उठाए सकल तीर्थ यात्रा पर जा रहे थे तब वह जमानियाँ पहुचे। उन्होंने कस्बे के पास एक घनी अमराई देखकर बहगी उतार दी। बचारे गर्मी से परेशान थके थकाए वहाँ पहुचे थे। आम्रकुज की शीतल छाया मे उन्होंने राहत की साँस ली। गगाजल पीकर स्वस्थ हुए। माँ बाप की बेटे से पूरी सहानुभूति थी। उन्होंने उन्हे अच्छी तरह सुस्ता लेने का मौका दिया।

'ऐ बुड्ढे ऐ बुड्ढी!!'

श्रवणकुमार ने कहा— म तुम लोगो का ताबूत ढोते रहने के लिए नही जन्मा हूँ।'

सम्बोधन मात्र से ही अन्धा अन्धी चौंचक थे। आगे की बात सुनकर तो उन्हें लकवा ही मार गया हो जसे। दोना साँस रोके लडके की बात पर कान अडाए बठे रहे।

मारा कि जीवन चौपट करके रख दिया। काँवड ढोते-ढोते कन्धा पर घटठे पड गए। जो होना था हो चुका। बडी भक्ति निबाही। अब यह भार मुझसे चलने का नही। बाज आया ऐसे सुपूत के निबाव स! वह गुस्सा म पर पटकने अमराई स बाहर की ओर चले। जाते हुए लडके क परा की धमक सुनकर अन्धे न कहा— बटा! तुमने जो कुछ कहा वह बिलकुल ठीक है। बस जाते-जाते एक बिनती सुनता जा।

श्रवणकुमार ने पास आकर पूछा— क्या है?

बात यह है बटे कि अमराई घना है। इसम स निकलने का हम रास्ता भी नहीं ढूढ पाएँगे। बस काँवड उठाकर थोडी दूर आग ठीक सडक पर रख देना। हम वहीं किसी राहगीर स पूछ-पाछकर रास्ता पा लेंगे। आग जसी प्रभु की मर्जी।

श्रवणकुमार को यह विनती कतई पसन्द नहीं आई, पर 'स्वभावो हि अतिरिच्यते'—सो उन्होंने पुराने घट्ठे पर फिर बहँगी रख ली और कस्बे को पार करके कुछ दूर सड़क पर आ गए।

"बस बेटे, बस, यहीं रख दे हमें।' बुड्ढा बोला। उसकी आवाज़ में न दहशत थी, न निराशा।

श्रवणकुमार ने बहँगी उतार दी और फूट-फूटकर रोने लगे। उनकी हिचकियों का तांता टूटता ही न था। अन्धे की आँखों से भी आँसू गिर रहे थे।

"पिताजी" श्रवणकुमार बोले—'मैं कितना अधम हूँ। पता नहीं कैसे मेरे मुँह से वैसी बातें निकल गई। आप मुझे क्षमा कर दें पिताजी।" बुड्ढे ने मुसकराते हुए कहा—"बेटे, इसमें तेरी कोई गलती नहीं है। दोष ज़मीन का है।'

ज़मीन का?'

'हाँ बेटे, तूने जिस अमराई में काँवड़ उतारी थी वह मातृहन्ता परशुराम का स्थल है। वहीं उन्होंने परशु से अपनी माँ की गर्दन उतार दी थी।

श्रवणकुमार आत्मग्लानि से मुक्त हो गए।

मगर हज़ार हज़ार श्रवणकुमार जो इस अंचल में बसते हैं, चाहकर भी ज़मीन के दाब से मुक्ति नहीं पा सकते। वे कावड़ उतार दें तो भी चढ़ाए घूमते रहें तो भी ज़मीन अपनी अन्तर्निहित विशेषता से उन्हें लांछित करने में कभी नहीं चूकती।

आपको शायद मालूम नहीं जमनिया को मदन काशी भी कहते हैं। तेरहवीं शती के एक जैन काव्य में काशी से पूर्व में बीस कोस की दूरी पर अवस्थित मदन काशी की चर्चा की गई है। यहाँ भी गंगा की धारा उत्तर वाहिनी है। कहते हैं कि वटेश्वर के चक्रवन में पड़कर कोई बच नहीं पाता। मुझे मालूम नहीं कि वर्तुल लहरों का ऐसा जाल गंगा या किसी भी नदी में कहीं फैला है पर मैंने अक्सर बरसात के दिनों में वटेसर के खाँचे में सड़ी हुई लाशों को चक्र की तरह गोलाई में घूमते देखा है। वह वही स्थान है जहाँ से गंगा उत्तरवाहिनी होती है वह वही स्थान है जहाँ की थाह लेने के लिए गाज़ीपुर के कलक्टर ने बहुत कोशिश की पर असफल हुए। हमारे ग्राम के पुरोहित चक्रवन या चक्रावन की कोई और ही व्युत्पत्ति बताते थे। भगीरथ के रथ के पीछे-पीछे गंगा चल रही थीं। अचानक रथ यहाँ आकर रुक गया था। सारथी ने घोड़ों पर चाबुक की बौछार की पर घोड़े अड़ गए। घोड़े आदमी से ज़्यादा विकसित स्वयंप्रकाश ज्ञान रखते हैं। वे जानते थे कि आगे महर्षि जमदग्नि का आश्रम है। जमदग्नि का यानी जमनिया। गंगा आश्रम डुबा

'पर इसम से कहीं बाहर जाकर नौकरी चाकरी करके बूढे बूढ़ियो की सहायता के लिए अकाल की जयन्ती पर कलदार भेजने वाले गग भी नही।

सभापति निराश हो चले। उन्हें लगता है कि जमीन बझा हो रही है। न तो ये छाकरे कांवड पटक पा रहे हैं न ढो ही पा रहे हैं।

मेरी कपसिया चाची सारे गाव मे 'चकचालन यानी चक्र या चक्कर लगाने वाली के शाश्वत खिताब से विभूषित है। जाने कितनी इन्साइक्लोपीडिया उनके दिमाग म परत दर-परत गडी पडी है। कुछ आखा देखी, ढेर सारी कानो सुनी।

"चाची, ठीक ठाक है न ?"

"ठीक का है बचवा, 'मुआ सुराज क्या हुआ खाने के लाले पड गए।" मैं चाची को इंदिरा-समाजवाद पर भाषण दू या डांगे, नम्बूद्रीपाद पर, कोई असर नही होने का। क्योकि उनके चेहरे पर कुछ इस तरह की अनजानी झुर्रियो का ताना-बाना खिचा है जो दु खो की इन्तहा से उत्पन्न उदासीनता के तागे से बना है, इसे भेदकर सातवें फाटक की लडाई लडने का साहस मुझ जस बौद्धिक मे नही आ सकता जो सुविधापसन्द जिन्दगी स समझौता करके जबानी जमाखच की मुद्रा म इनका हाल चाल जानना चाहता है। आप गलिया मे घुसिए--घुस नही पाएंगे क्योकि वे गरकानूनी ढग स मकाना के भीतर या दीवालो के बगल के पुश्त मे ले ली गई हैं। आप घरो म घुसने की कोशिश कीजिए, असफल होग क्योकि हर दरवाज़े और निकसार पर ढेर सारी मक्खिया से छूल छूलया खेलते अपरम्पार मरियल छोरा की भीड चौकठ पर ही बैठी मिलेगी, इन्ह दूसरी जगह कोई सूखी जमीन मेलन बैठने के लिए नसीब ही नही होती। आप नई पीढी के दिल म घुसने की कोशिश कीजिए, असफल होंगे क्योकि वहाँ केवल दिशाहीन धक्क-धक्के कुहासे क अलावा कुछ है ही नही। आप बुजुर्गों के दिमाग म घुसने की कोशिश कीजिए, असफल हागे क्योकि उनका दिमाग इस तरह ठस है कि उसम सिफ एक चीज कामकला भरी है-- हुह ई पढवैया लोग खाली गप्प मारत हैं। मैं सोचता हूँ कि क्या ये गलियाँ, य घर ये दिल, य दिमाग कभी खुलेंगे भी ? कभी इनमे मादन या प्र सचमुच उतरेगा ?

सुना, पटेल आयोग ने पूर्वांचल के विकास के लिए एक लम्बी चौडी रपट तयार की। बडी कसरत उठक-बठक उलट-नाटक के बाद रपट सरकार के हवाले की गई कि यह नितात व्यावहारिक और कम खच वाली योजना है, पर कुतुबमीनार हो या मेरुस्तम्भ उसम इतनी मजिलें हैं कि रिपोट का बुर्जो तक चढ़ पाना और वहां स उतरकर कपसिया चाची की झुर्रिया के सामन खुल पाना कतई सम्भव नहीं लगता। त्रिभुवननारायण सिंह और कमलापति

त्रिपाठी या इसी तरह के दूसरे लोगों का इनाम क्या होगा। उ., गिरे जनता की गरीबी और हालातों में पनपकर जिन्दगी गुजर करती ता है नहीं। बड़े बड़े काम हैं, कितनी उलझी हुई समस्याएँ हैं। फिर कुर्सी की हरकत से भी वे अच्छी तरह वाकिफ हैं इसलिए वे उस कुर्सी को स्थिर नहीं रख। म ज्यादा ध्यान दें तो इस मामूली बढ़ई भी समझदारी कभी न बढ़ पाएगा। हमारी आपकी तो बिसात ही क्या !

उस दिन जमानियाँ के प्लेटफार्म पर दिहात के एक नामी-गरामी आदमी मिल गए। बोले— बेटा, यह इलाका तो अब आने-जाने लायक भी नहीं रहा। बाल-बच्चों को लेकर कभी आना हो तो रात में गाँव के लिए न चल पड़ना।'

हमने मामूमियाँ से पूछा—'काहे काका !'

'अरे भइया, उस रात डेढ़गाँवा के दो जने कहीं दिसावरी से लेकर लवट जा रहे थे। यह तलासपुर की आढ़त है न ?'

मेरे सामने तलासपुर की आढ़त खड़ी हो गई। मेरा अचल कश्मीर नहीं है केरल नहीं है, और तो और मिर्जापुर और चुनार भी नहीं है पर तलासपुर की आढ़त पता नहीं क्या मुझे बेतरह खींचती है। किसी जमाने में यह गल्ले का विशाल गोदाम थी। जमानियाँ की गल्लामण्डी का एक पोस्ट कह लीजिए। उन दिनों गल्ला व्यापारियों को इतना भी सब्र नहीं था कि वे देहात से खरीदा गल्ला एक मील दूर स्टेशन की मण्डी में रख आएँ। रखेंगे, ले जाएँगे वहीं पर पहले गल्ला उठा तो लें। अनाज के बोरों से लदी बैलगाड़ियाँ, बर साती पानी से बचने के लिए तिरपाल या सरपत की छाजनों से ढँकी लदद् टट्टुओं की कतारें, घटी टुनटुनाते लद्दू बैल—सभी इस आढ़त के सामने आकर इकट्ठे हो जाते। गोदाम के कमरे व्यापारियों को अनाज रखने के लिए किराये पर उठा दिए जाते। सुबह से दूसरी सुबह तक सिर्फ एक काम—अनाज उतारना और गोदाम में पहुँचाना। रात के धुँधलके में गाड़ीवानों के जलते हुए चूल्हे या अहरे सिंकती हुई बाटियों की महक, व्यापारी, मुनीम और गाड़ीवानों की तकझक—क्या रौनक थी ! उस वक्त आढ़त के आँगन में पारिजात के दो पेड़ थे। वे फूलते तब थे जब अनाज गाड़ियों की भीड़ शुरू न होती थी। हम लोग पकते धानों के बीच से सुगापंखी खेतों की मेड़ों से गुजरते हुए इस आढ़त से पारिजात के फूल बटोरने के लिए वहाँ पहुंच जाते।

अब वहाँ सिर्फ खण्डहर है। आसपास के किसी गाँव के छोटे से बनिये ने राहगीरों के लिए गुडपट्टी रेवड़ी-लक्ठे की छोटी सी दूकान खोल ली है एक खण्डहर की दीवार पर फूस की मड़ई डालकर।

तो बेटा उस रात हल्की बारिश होने लगी। वे दोनों जन उसी मड़ई में घुस आए। तुम जानते ही हो रात को बनिया वहाँ रहता नहीं। सारा सामान

बटोरकर गाँव चला जाता है।"

हाँ काका।" मैं कहता हूँ, पर स्मति मे पारिजात के ललछौंहे डण्ठल वाले नाजुक फूल बहते उतराते चले जा रहे हैं।

बस एक आदमी ने सडक से उन पर टार्च से रोशनी फेंकी। उसका चेहरा गमछे स ढँका था। बगल से वैसे ही दो और नकाबपोश निकले। सभी के हाथो मे भाले थे। उन लोगो ने सामान छीनने की कोशिश की। एक से हाथापाई शुरू हुई, तब तक दूसरे ने पीठ मे भाला मारा। और सामान लेकर चलते बने। मुश्किल से आठ आठ रुपया की दो साडिया, पाचेक ये मिठाई-खाजे—यही न? इत्तेभर के लिए यह सब हो गया। राह चलना मुश्किल है बेटा। अब जमनियाँ वह जमनिया नही रहा। जिस किसी को देखो कि थोडा नटवर है बदन पर बुशट और पतलून है बिना कहे जान लो कि उसके पास पिस्तौल है या बिजली का हण्टर है या और कुछ नही तो रामपुरी चाकू है। सारा इलाके का इलाका गुण्डा की जमींदारी हो गया।"

गाडी आ गई थी। वे चले गए। मैं सोचता रहा कि क्या सचमुच इस धरती मे ही दोष है? पर नवमलवाडी मे तो परशुराम नही हुए। मुराहरी म कोई एतिहासिक अमराई नही है। श्रीकाकुलम बहुत दूर है भृगुक्षेत्र से—फिर, फिर, इस क्या कहा जाए? आखिर दोष किसमे है?

कोई मेरे कानो म भुनभुनाता है—'तुम भी अन्धो की तरह धरती को दोषी कहकर मौन हो जाओ। इसी मे लाभ है। इसी मे खैरियत है। क्योकि भ्रष्ट व्यवस्था म कभी भी आदमी दोषी नही होता निर्जीव पदार्थों के सिर दोष मढकर अपना सिर बचाना ही बुद्धिमानी है, राजनीति है सफलता की कुंजी है।'

थाक-थाक तोमार घोड़ागाड़ी आमरा हेंटे इ जाबो

बगला देश म चलनेवाले स्वाधीनता-सघष म हँसते-हसते मरनेवाले लोगो के बारे मे मैं जब भी कोई बयान पढता हू मुझे रवि बाबू का गीत याद आने लगता है—

कोन कानने जानिने फूल
गधे एत करे आकुल
कोन गगने उठे रे चांद
एमन हासि हेसे
ओ माँ आँखि मेलि तोमा आलो
देखे आमार चोख जुड़ालो
ए आलोके नयन रेखे
मुदबो नयन शेषे
सायक जनम आमार
ज मेछि ए देशे

नही जानता कि किसी और कानन मे ऐसे फूल होते है जिनकी गध प्राणो को ऐसा आकुल कर सकती है। मुझे नही मालूम कि किसी और गगन म ऐसा चाद होता है जो इस तरह खिलखिलाकर हसता है। हे माँ तुम्हारे इस आलोक को देखकर मेरे नयन जुडाते हैं। इसी आलोक को आँखो मे लिए नयन बन्द कर लू यही कामना है। मैं ऐसे देश म जन्मा कि जीवन सायक हो गया।

लाखा लाख व्यक्तियो का यह जोश न तो गद्दारी है न देशद्रोह। इन्हे राज्य और शासन की मर्यादा का ढोल पीटकर दबाया नही जा सकता। शासन उस वक्त शैतान बन जाता है जब वह जनता की इच्छाओ को, जीने और जीते रहने की मामूली ख्वाहिश को सगीना की नोक पर उछालने की कोशिश करता है और आदमी के मामूली सपनो को अपने भद्दे बूटो से कुचल

देने की वहशियाना हरकत करता है। ऐसे शासन को लानत है। पाकिस्तानी फौजी शासन ने खुलेआम इस शांति की शरारतपसंदा की छड़ छाड़ कहा और फौजी छावनियों में घोषणा की गई कि मुजीब कहता है कि बंगाली बहुमत में हैं इसलिए वे पाकिस्तान पर हुकूमत करेंगे हमें इन्हें अल्पमत में बदल देना है ताकि कभी भी ये पंजाबी और पठानों पर शासन का मनसूबा न रख सकें।

उसने खुले चौराहे पर लोगों की भीड़ को सम्बोधित करते हुए कहा—'सुनो लोगो संसार के तमाम खूंखार दरिंदों से कहीं बदतर एक जानवर होता है जिसे शासन कहा जाता है। यह निहायत बदसूरत और गलीज झूठ बोलता है। ये अल्फाज सिर्फ इसी की जुबान से निकलते हैं कि मैं यानी शासन ही जनता है। हां हां हां। यह झूठ है। सरासर झूठ है। निर्माता वह है जिसने जनता को बनाया। उसने इनके ऊपर मुहब्बत और विश्वास की छांव डाली और हुकूमत? हुकूमत वह ध्वंसकारी गिरोह है जो बहुमत को हिकारत से देखती है और जनता पर तलवार और संगीनों की छाया तानती है।' इस तरह बोला जरथुस्ट। नीत्से का यह पागल दार्शनिक आज जाने क्यों बार बार याद आता है। साढ़े सात करोड़ जनता ने अपने सपनों और अरमानों को पूरा करने के लिए जिस आदमी को चुना जिसे उन्होंने खुलेआम अपना एकमात्र रहनुमा और नेता करार दिया वह देशद्रोही और गद्दार है जब कि दुनिया भर से भीख मांगकर बटोरे हुए जंगी सामानों की ढेरी पर खड़ा याहिया खान पाकिस्तान का सदर है और वह मुल्क की एकता और हुकूमत की मर्यादा को बचाने के नाम पर जो कुछ कर रहा है वह पाकिस्तान का अन्दरूनी मामला है। कैसी बदसूरत होती है हुकूमतों के नाम पर बनाई गई यह संवैधानिक साजिश। इसने दुनिया की छोटी बड़ी तमाम हुकूमतों के मुंह सिल दिए हैं। असल में हुकूमतों की भी एक अन्तर्राष्ट्रीय गिरोहगर्दी होती है जहां एक-दूसरे के जुल्म और अमानवीय कार्यों को ढंकना तोपना गिरोहस्वार्थ की संहिता का परम पवित्र उद्देश्य बन जाता है।

हमारे देश के लोग परेशान हैं कि यदि ऐसी घटनाओं को समर्थन दें तो एक दिन नागालैण्ड कश्मीर, तमिलनाडु आदि को भी देश से अलग होने से बचाया न जा सकेगा। कुछ लोग कहते हैं क्या पता दोनों बंगाल मिलकर एक हो जाएँ। पता नहीं इस शंका पर पागल दार्शनिक जरथुस्ट्र क्या कहता पर एक मामूली बौद्धिक भी आसानी से कह सकता है कि क्या पूर्वी पाकिस्तान की घटनाओं से इतना भी नहीं सीख पाए कि मुहब्बत और विश्वास की छाया के नीचे ही एकता होती है, संगीनें और तलवारें एकता नहीं पैदा कर सकतीं।

हुकूमतें हमेशा झूठ बोलती हैं। जनता एक-न-एक दिन अपने खून का

हिसाब माँगती है उस दिन दिन यह विश्वास हो जाएगा कि सद्भाव की बात करने वाले गिराह स्वाथ की सहिता का पालन कर रहे हैं वह उन हुकूमतों को इसी तरह दफना देगी जसा बांगला देश म हो रहा है। एकता एक दूसरे की मदद म बेहतर जीवन जीने क बुनियादी प्रश्न पर टिक सकती है। यदि ऐसा नहीं है तो वह नकली एकता है। सवाल इस या उस हिस्से का नहीं सवाल इसान का है जनता का है। आप जनता क नाम पर कुछ ही समय तक अपना उल्लू सीधा कर सकते हैं। कागज की नाव हमेशा नहीं चला करती। इसलिए हम बांगला देश की घटनाओं पर नए सिरे स सोचने की जरूरत है। बहुत वर्षा क बाद इस उप महाद्वीप की जनता और नेताओं के सामने ऐसा अवसर आया है कि हम स्वाथ और सकुचित सीमाओं स बाहर निकलकर कठोर यथाथ की जमीन पर खड़े होकर सही ढग स सोचना शुरू करें। इस नव चितन म बहुत सी चीजें टूटेंगी जिनसे हमारा मोह भी हो सकता है पर मोहबिद्ध स्थिति स छुटकारा पाने का शुभअवसर भी जातियों को कभी कभी ही मिलता है।

स्वतन्त्रता जन्मसिद्ध अधिकार है कहने वाला माडले की जेल म बन्द कर दिया गया। यह स्वतन्त्रता शब्द भी खूब छलावा है। स्वतन्त्रता के नाम पर आजकल एक-से एक नारे प्रज्ज्वलित हो गए हैं। हम इसीलिए असली और नकली स्वतन्त्रता मे भेद करना होगा। असली स्वतन्त्रता विश्वव्यापी मानवता की जरूरत है नकली स्वतन्त्रता गिरोहस्वाथ वालो की सत्तालिप्सा का आवरण होती है। मैं कम्युनिस्ट शासन मे व्यक्ति की सत्ता और स्वतन्त्रता को नकारने वाली हुकूमत की लफ्फाज़ी का सख्त विरोधी हूँ पर मुझे फ्रेडरिक एंगिल्स का यह कथन हमेशा ही सही और साथक लगता रहा है कि स्वतन्त्रता प्राकृतिक नियमो को इन्कार करने की काल्पनिक स्थिति का नाम नही है बल्कि मनुष्य की जरूरियात को पूरा करने की छूट की स्वीकृति है। मनुष्य की मामूली जरूरतें पूरी करने की भी जहाँ छूट नही होती वही असली स्वाधीनता सघष जन्म लेता है। यह असली स्वाधीनता मनुष्यता की स्वाभाविक अस्तित्वमूलक विशेषता है। यह कभी विभाजित नही होती। कभी धम, राष्ट्र या सस्कृति आदि की मामूली सीमाओं से घेरी नहीं जा सकती। इस स्वाधीनता के सलाब को मजहब या राष्ट्रीय एकता के नाम पर कुचला नही जा सकता और इसी लिए हर मनुष्य का यह स्वधम है कि मनुष्यता की इस अविभाज्य आत्मिक माँग को पूरा समथन द। बांगला देश की स्वाधीनता का सघष असली स्वाधीनता-सघष है क्योंकि यह सघष वहाँ की जनता के जीवन की मामूली जरूरता के पूरी न हो सकने की स्थिति से जन्मा है इसलिए यह एक आन्तरिक असली और बुनियादी स्वाधीनता सग्राम है। इसे स्वीकार करने म धम

सविधान, राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीय तौर तरीका की दुहाई देकर हिचकना अमानवीय और मानव धम के विपरीत है।

असली स्वाधीनता-सग्राम एक प्रकाश-स्तम्भ होता है जो न केवल अपने मूल स्थान म अन्धकार और तमस की जडता से टकराता और उसका विनाश करता है, वल्कि अपनी ओर सहानुभूति और मानवधमिता क भाव से देखने वाला को भी नया प्रकाश और उत्साह प्रदान करता है। असली स्वाधीनता सग्रामो को राजनीतिक मतवादा की घुसपठ से धूमिल और निरथक बनाने की कोशिशें भी कम नही होती, बल्कि प्राय इनसे बच पाना असम्भव नही तो कठिन तो अवश्य ही रहा है पर कभी कभी प्रकृति मनुष्यता को सही दिशा निर्देश देने के लिए शुद्ध स्वाधीनता आन्दोलन को जन्म देकर उदाहरण भी पेश करने का काम करती रहती है। आज यदि मुजीब अमेरिकी, चीनी या रूसी मतवाद का पिटठू होता तो उसे बिना मागे अतुल सहायता मिल जाती पर तब यह भी खतरा होता कि एक नया वियतनाम पदा हो जाता, जहाँ सत्य और असत्य का ऐसा गडबडझाला खडा कर दिया जाता कि पता ही न चलता कि जनता और फौज की आवाज़ मे फक क्या होता है। मुजीव इस दृष्टि से प्रकृति का निर्वाचित ऐसा प्रतिनिधि है जो मनुष्यता को ही अपना नारा और उद्देश्य बनाकर चला है किसी मतवाद और झण्डे को नही। इसी कारण उस की लडाई अमानवीयता के खिलाफ मानवता की लडाई बन गई है। इसी वजह स इस लडाई की जोखिम भी बढ गई है। मानवीयता को वरीयता देने के कारण मुजीव ने क्रान्ति म करुणा को जोडने की कोशिश की है। यानी लोहिया की शब्दावली म 'क्रान्ति म करुणा का मेल सिविल नाफरमानी है।' सिविल नाफरमानी के सबसे बडे उस्ताद लोहिया ने शायद यह नही सोचा कि दुर्दान्त सत्ता गहित नाज़ीवाद की पुनरावत्ति भी कर सकती है। लोहिया को शायद विश्वास था कि दुनिया आगे बढ रही है इसलिए नाज़ीवाद का गडा मुदा क्योंकर खडा हो सकता है। पर हुआ और यह मानना पडेगा कि सिविल नाफरमानी के फलसफे मे इस लडाई के बाद थोडी तरमीम करनी पडेगी। सिविल नाफरमानी कत्लेआम के सामने अहिंसक नही रहेगी यह जोडना लाजिमी हो गया है। लोगा का पुराना शक फिर सिर उठा रहा है यानी गाधी का सत्याग्रह अपेक्षाकृत सभ्य अग्रेज़ो के सामने और लोहिया की सिविल नाफरमानी देशी सत्ता के खिलाफ ही कारगर हो सकती है।

वस्तुत मुजीब का स्वाधीनता सग्राम एक ऐसी घटना है जो कई तरह के मुद्दे उभारेगी। इस लडाई ने या क्रान्ति ने कई चीज़ा पर सोचने के लिए विवश किया है। बागला देश के मुक्ति सेनानियो की याद आती है तो तुलसी याद आते हैं। 'रावण रथी विरथ रघुवीरा' का दृश्य ताज़ा हो जाता है।

यह पहली विरथी क्रान्ति यानी साज सज्जा, साधनहीन तथा किसी मतवाद से अछूती क्रान्ति है। अर्थात इस लडाई के सामने मजहब, मतवाद या क्रान्ति के परिचित स्कूलों अर्थात माग्रो चेग्वारा अथवा लेनिन आदि की क्रान्तिया के नक्शे बेकार हो गए हैं। क्रान्ति कोई सिक्का नही है कि उसे किसी-न किसी छापे के बिना ढाला ही नही जा सकता। क्रान्ति जनता की आत्मा का आक्रोश है रुद्रभाव है जो अपनी अभिव्यक्ति की शक्ल खुद तलाश कर लेता है। मुजीब का स्वाधीनता सग्राम क्रान्तियो की नई नई पोशाको या लबादा के बिना सहज स्वाभाविक गति मे पाव-प्यादे सामने आया है जो कि मनुष्यता के भविष्यत सघर्षों को एक नया मोड देने का काय करेगा। अन्याय से जूझने का यह नया प्रयोग और इतने शहीदो का खून बेकार नही जाएगा। इसमे सफलता असफलता के प्रश्न का कोई खास मतलब नही। सभी जानते हैं कि असफल क्रान्तियाँ देशद्रोह बन जाती हैं। सवाल क्रान्ति के उसूलों और उसको चलाने के तरीको का है, सफल होने या असफल होने का उतना नहीं।

इस तरह की क्रान्तिया हमेशा आन्तरिक और बौद्धिक चेतना से खाद और खुराक ग्रहण करती हैं। बुद्धि को गिरवी रखकर क्रान्ति का फल सम्भवत आसानी से या कम दिक्कत से पाया जा सकता है। पर बिना गिरवी रखी बुद्धि को क्रान्ति के दौर मे जिन खूनी घाटियों से गुजरना होता है उसे भुक्तभोगी ही जान सकता है। इसका सबसे कडुवा स्वाद बागला देश के बौद्धिकों को चखना पडा है। अपनी बुद्धि पर विश्वास करना स्वाभिमान भले लगे खतरनाक कम नही होना। मुजीब और उसके साथी इसे जानते थे। इसका परिणाम भी सामने है। बागला देश की सामूहिक बौद्धिक चेतना को बन्दूको से उडा देने का प्रयत्न शैतान की बेइन्तहा अक्लमन्दी का प्रमाण है, पर शतान हमेशा ही यह गलती करता है शायद यही उसकी विशेषता भी है, कि वह असली स्वतन्त्रता की तरह असली बौद्धिकता को भी क्षेत्रीय वस्तु मान लेता है। बागला दश के बौद्धिक जो अब नही हैं, अपनी चेतना की विरासत, विश्व के उन तमाम बौद्धिको के नाम छोड गए हैं जो बुद्धि को गिरवी रखना मृत्यु से बदतर मानते हैं। बागला देश की यह विरथी क्रान्ति वस्तुत विश्व के बौद्धिकों के लिए बहुत बडी चुनौती है।

वाल्ट ह्विटमैन के नाम एक खुला पत्र

पदमा एक समुद्री जहाज है जिस पर अमरीकी हथियार लदे हैं। पदमा एक नदी है जिसमे मछलियाँ होती हैं जिन्हें मारकर आदमी खाता था, अब मरे हुए आदमी को वहाँ मछलियाँ खा रही हैं। मैं किसी भी देश के कवि पर विश्वास करता हूँ क्योंकि वह अपने ही देश के इतिहासकार से ज्यादा ईमानदार होता है।

मैं अमरीकी कवि वाल्ट ह्विटमन का प्रशसक था। अब भी जब उसी की शैली म या आज के मुहावरा मे, उसी से मिलती-जुलती, या आगे की बातें करनेवाले बहुतेरे कवि सामने हैं, पक्ति को अर्पित होकर उन्होंने पक्ति लम्बी कर ली है, मैं उसका प्रशसक हूँ, क्योकि उसने एक नई जमीन तोडी थी। पर पिछले कई दिनो से जब भी 'लीव्ज आफ ग्रास' पुस्तक किसी दूसरी के खोजने के सिलसिले म छू जाती है मुझे जाने क्या कुछ गिजगिजा सा लगता है। एक अस्पष्ट कही न जा सकनेवाली विरक्ति, जसी शायद पदमा के माँझिया को रोज-रोज छुए जानेवाले शवो को पुनर्वार छूकर होती होगी।

मैं आपसे कसे कहू कि अपने मनपसद किसी साहित्यकार के बारे म जब अपनी भावनाओ मे तल्लीनी आती है खुद को एक सदमा-सा लगता है। चाहे वह तल्लीनी गलत कारणो से, गलत रूप मे ही क्यो न हो या वह एक बहुत छोटी घडी के लिए ही क्यो न जगे। ह्विटमन ने मेरे दिमाग म पहली बार अमरीका के बारे में बनी हुई गलत तस्वीर को साफ किया था। मैं तब तक अमरीका को एक ऐसे ही समुद्री डाकुओं का मुल्क मानता था जो सोने की खोज म हमसफर एक ही उद्देश्य से प्रेरित साथियों की पीठ म छुरा मारकर रातोंरात सोना पाकर धन्ना सेठ बन बठे और फिर उन्होंने 'रेड इण्डियन' का शिकार करते हुए घने जगला पर कब्जा किया जो बाद मे ऐसी उपजाऊ जमीन मे बदल गए जो इफरात गेहू उगलती है जिसे वे दुनिया के बाजार मे अपनी धौंस

जमाने के लिए तथा हमारे जसे भिखारी मुल्कों की 'निर्णय शक्ति' को गिरवी रखने के लिए इस्तेमाल करते हैं।

मुझे ह्विटमैन ने बताया कि मेरा सोचना गलत है। उसने अपने दिल की कशिश को शब्दों के जादू मे घोलकर पता नही कौन सा माहौल रचाया कि मुझे भी उसी की तरह लगने लगा कि अमरीका खुद मे एक काव्य है। मुझे विस्तृत फले सख्त चट्टानी जगलो से ढकी धरती प्यारी लगने लगी, क्योंकि उसका अपना एक अलग सगीत था, जो बियाबान मे भी गडरियो की आवाजो और 'काउबॉयज' के घोडो की टापो के साथ घुल मिलकर प्यारा लगता था। मुझे 'राष्ट्रो से बने उस राष्ट्र' की लोकतान्त्रिक व्यवस्था का जादू मोहित कर गया। मैंने दिल खोलकर यह स्वीकार कर लिया कि अमरीका ही ऐसा देश है, जो न्याय के लिए लडता है, स्वतन्त्रता के लिए जीता है और व्यक्ति की प्रतिष्ठा के लिए सब कुछ कुरबान करने को तैयार रहता है।

मुझे ह्विटमन पर गुस्सा आता है। सच पूछिए तो ऐसा आत्मघाती गुस्सा जो सिर्फ किसी कवि या साहित्यकार पर ही आ सकता है या जग सकता है। कमबख्त जाने किस मूड मे था कि लिख गया, 'दूसरे राज्य अपने देश के चुने हुए प्रतिनिधियों से जाने जाते हैं। मगर अमरीका अपनी सरकार से सिनेट से प्रतिनिधि सभाओ से राजदूतो से कालेजो यूनिवर्सिटियो या गिरजाघरो से नही पहचाना जा सकता, उसे पहचानना हो तो उस जनता को जनारण्य को देखो उनके स्वच्छद रहन सहन, मित्र भावना मृत्युहीन स्वतन्त्रता की अदम्य इच्छा गलाजत नीचता और जघन्यता के प्रति उनकी उत्कट वितृष्णा और विरक्ति उनकी अकूत जिज्ञासा को देखो। याद रखो अमरीकी प्रेसिडेंट हैट उठाकर जनता का अभिवादन करता है जनता उसका नही।

आज भी जनता वही है उसके जोश-खरोश म कमी नही आई है। उसके स्वच्छद रहन सहन मे वृद्धि ही हुई है। आज भी चुनाव के बाद इस जनता का अभिवादन प्रेसिडेंट ही करता है, पर पर

वही प्रेसिडेंट नीचता के अतिम छोर पर जाकर पूरे अमरीका को बदनाम करने वाली हरकतें भी करता है। वह स्वतन्त्रता के लिए जीते रहने की मामूली छूट के लिए जद्दोजहद करती हुई अधनग्न बुभुक्षित पूर्व बगाल की निहत्थी जनता को फौजी बूटों से कुचलने की साजिश मे याहिया खाँ की मदद करने की हरचद कोशिश से बाज़ नही आता। क्या मैं मान लू कि पिछले दो दशको से लगातार एशिया की जमीन पर एक से एक निखटटू कठपुतले प्रेसिडेंटो की मदद करता हुआ, ह्विटमैन का अमरीका सब जगह से मात खाता हुआ भी अपनी गलतियां स्वीकार करने को तयार नही है? च्याग काई शेक सिगमैन री अय्यूब कितने नाम लूँ—सभी-के सभी अमरीकी चोगे के भीतर जनाक्रोश स बचाने की गरज

से छिपाए जाते रहे और अतत बुरी तरह पिटकर बेनकाब करके धकेल बाहर किए जाते रहे—यह सब कुछ वाल्ट ह्विटमन का वह अमरीका करता रहा, जिसके स्वतत्र मछुवे, व्यापारी और खदानो म काय करने वाले श्रमिक, प्रयोग-शालाओ के वज्ञानिक और तकनीकी जानकार, प्राध्यापक और बौद्धिको ने एक नये स्वतत्र देश म मानवीय सवादिता और सौमनस्य को ज म दिया था।

इसी सौमनस्य को विश्व के रगमच पर उतारने के लिए तुम्हारी आत्मा तडप जाती थी। तुम्हें याद आता होगा ह्विटमन, कि 'पसेज टु इडिया कविता को लिखते समय तुम कितने विश्वास साहस और उत्साह के साथ अपनी ही आत्मा को सबोधित करते हुए आदोलित हो उठे थे

डाड बढ़ाओ केवल गहरे जल की ओर चलो तुम
ओ दुस्साहस भरी आत्मा!
आओ ढूढें, साथ तुम्हारे मैं ओ तुम होकर मेरे साथ चलो
जहां आज तक कोई नाविक कभी न पहु चा
चिता क्या, जलयान पडे खतरे मे हम, या सब कुछ
ओ रे मेरी वीर आत्मा आगे आगे बढती जाओ

तुम्हें भारत के गहरे समुद्रो के आह्वान ने मत्रमुग्ध कर लिया था, क्योकि तुम जानते थे कि जब तक पश्चिम की भौतिक उन्नति पूव के अध्यात्म से जुडती नही विश्व कोई सचमुच की सही दिशा नही पाएगा। आज भारत के वे ही समुद्र अमरीकी हथियारो से लदे जहाजो से आक्रात हो रहे हैं। एक देश की स्वतत्रता को कुचलने की इस साजिश मे तुम्हारे देश की सरकार आकठ धँसी हुई है। तुम एक ऐसे व्यक्ति थे, जो हर किसी को अपना गुप्त से गुप्त दद सुनाने के लिए प्रेरित करते थे। तुमने मेरा गीत' शीषक रचना मे अपनी कफियत यों दी थी—

मैं अपने को ही अभिनदित करता
अपने को गाता हूँ
हर अणु मेरा जो अपना है वही तुम्हारा भी है।
सुननेवालो, कुछ है क्या जो विश्वस्त भाव से
सिफ मुझी से कह पाओगे?
मेरे मुख पर सीधे देखो
जब तक मैं मुडती सध्या को श्वासों मे अपने भर लूँ
सच्चे दिल से कह डालो
कोई नहीं यहाँ जो सुन पाएगा
मैं तो केवल एक मिनट के लिए रुका हूँ।

हाँ, ह्विटमन हमारे पास विश्वस्त भाव से कहने के लिए बहुत कुछ है।

बांगला देश के हजार हजार भूखे, पददलित, निहत्थे, मजलूम बहुत कुछ कहना चाहते हैं। पर तुम्हारे जसे कितने लोग हैं, तुम्हारी सरकार के भीतर, जो एक मिनट रुककर यह सब सुनना चाहें?

तुम्हारा एक नेता था। तुमने अपने शोकगीत में कहीं उसका नाम नहीं लिया है। पर किसी को समझते देर नहीं लगती कि एरोइका सिफ्नी से भी ज्यादा दर्दीले ये वाक्य तुमने अब्राहम लिंकन की हत्या से विह्वल और कातर होकर लिखे थे—

नीले लाइलक के फूल, तारे और चिड़ियाँ
मेरी आत्मा के दर्दीले गीतों से किस तरह जुड़ गई हैं
वहाँ सुगंधित देवदारु और चीड़ की कुजें
धुंधले अंधेरे से घिर गई हैं।

क्या तुम चाहते हो ह्विटमैन, कि बांगला देश का कोई नजरुल कोई मुस्तफा या मोइनउद्दीन इसी तरह की पंक्तियाँ लिखने के लिए मजबूर हो? मुजीब को लिंकन बनने से शायद रोका नहीं जा सकता।

हम तुम्हारे देश की जनता के प्रति श्रद्धावनत हैं, क्योंकि वह अभी जीवित है। सच मानो ह्विटमन हम हिंदुस्तानी आज भी तुम्हारे स्वतन्त्रताप्रिय शहीदों को वसे ही याद करते हैं। उनके प्रति हमारी आस्था आज भी ज्यों-की-त्यों है। सच मानो ह्विटमन, हम अपोलो अंतरिक्ष यानों की चंद्रपरिक्रमा और अवतरण के रिपोर्ताज पढ़कर बिना किसी संकोच के तुम्हारे महान राष्ट्र की अभ्यर्थना में कमी चूके नहीं, किन्तु हम तुम्हारी उन सरकारों का क्या करें जो हमेशा अपने साथियों और मित्रों के रूप में तानाशाहों और जंगबाजों को ही चुनती हैं। जिनके लिए एशियाई और अफ्रीकी जनता की आजादी के लिए चल रही लड़ाइयों का कोई मूल्य नहीं। वे जन नेताओं को अपनी शतरंज की गोटियों में बदलने के लिए कुछ भी करने को तयार हैं। वे झूठ बोलते हैं राजनीति में समुद्री दस्युनीति का प्रयोग करते हैं वे अपनी मूर्खता के कारण पिटते हैं। एक वियतनाम से हटते हैं तो दूसरे का निर्माण किए बिना उन्हें नींद नहीं आती। हम निक्सन की कपट छुरी से उतने परेशान नहीं हैं जितने इस बात से कि आखिर एक कवि राजनीतिकों के षड्यंत्र से झूठा साबित क्यों हो रहा है! क्या चुनाव के बाद प्रेसिडेंट हट उठाकर चूंकि जनता का अभिवादन कर देता है इसीलिए जनता वह महान स्वतन्त्रताप्रिय जनता उसे गलत कामों को करने से रोक नहीं सकती?

अब तक तो संभव नहीं हुआ ह्विटमैन शायद आगे हो सके और जब तक ऐसा नहीं होता तुम्हारी आत्मा जहाँ भी हो क्षमा करना मैं स्पष्ट कहना चाहता हूँ कि मैं जो तुम्हें प्यार करता था घृणा करता हूँ। इस संदर्भ को तुम सही ढंग से समझोगे—इसी आशा के साथ।

अविससा=शवासन+खामख़याली

करीब दस बरस पहले की बात है। मेरे एक मित्र ने हँसते हुए कहा—"आखिर आप हैं क्या?"

मैं कुछ न समझता-जसा उसकी ओर देखता रहा। उस वक्त मैं गगसहिता ले आया था और उसके एक अश का सस्वर पाठ कर रहा था। मैं अपने बेसुरे राग म अक्सर तन्मय रहता हूँ। मेरी हैरानी देखकर वे बोले—"आप इसी तन्मयता से 'दुर्गासप्तशती' का या गीता का ग्यारहवाँ अध्याय गाते हैं। इसी तन्मयता से मानस भी पढ़ेंगे, सूरसागर भी चडीदास को और विद्यापति को भी और उसी तन्मयता से नातिया कव्वाली भी गाएँगे और ईसाई प्रार्थनाएँ भी सुनेंगे। आखिर आप यह खिचडी और घपला क्या चलाते रहते हैं?"

मेरे वे मित्र कट्टर कृष्णभक्त हैं, उन्हें दुर्गामन्दिर की डयोढी लाँघना भी पसन्द नहीं आता। बात आई गई हो गई। वे अपने काम में लगे, मैं युनिवर्सिटी चला गया।

मैंने उस दिन रासो का 'शशिव्रता विवाह समय पढाया जो मात्र शृगारिक था यानी ऐसा कि माडन कही जानेवाली लडकी भी गुस्सा हो जाए। सूर के 'भ्रमरगीत' के कुछ पद जो अचानक मुझे उस मूड म ले गए, जहाँ जाकर मैं अक्सर कक्षा मे एक अजीब उदासी की नीरवता मे धाराप्रवाह बोलता हूँ। फिर बी० ए० में मैंने मैथिलीशरण की 'कुजा' पर भाषण दिया। कुजा बिलकुल अश्लील नही होती, सो थका-थकाया घर लौटा।

●

चौकी पर शवासन की मुद्रा मे लेटा-लेटा मैं सोचता रहा—वाकई यह कसा घपला है? मुझे कबीर तुलसी, सूर गालिब चडीदास, विद्यापति जायसी आलम गेटे, शेक्सपियर, मलार्मे चेखव, रवीन्द्र और कुरुप मुहम्मद रफी और शकील अलाउद्दीन खाँ और रविशकर जैन बुद्धिज्म और तिब्बती लामाधम,

कवाला और नित्यापोडशिकाणव म कहीं न-कहीं तो स्पष्ट रेखा खींच देनी ही चाहिए। ऐसा तीतर-बटेरवाद निहायत गलत और नामाकूल है। मैं सचमुच परेशान हो गया। मुझे लगा कि मैं एक कमजोर मस्तिष्क का ऐसा आदमी हूँ जो बहुत जल्दी ऐसे वसे ही प्रभावित हो जाता है और मुझे परस्पर आमने सामने टक्कर मारने वाली चीजों को एक जगह इकट्ठा करने की विवशता म गिरफ्त हो जाना पडता है।

मेरे डाक्टर ने मुझे सलाह दे रखी है। विश्वविद्यालय से लौटकर सीधे चौकी पर या किसी बराबर सतह वाली चारपाई या जमीन पर चित लेट जाइए। दिमाग को एकदम खाली कर दीजिए। बीस मिनट एसे ही पडे रहिए। हाटस्ट्रेन से बचने का यह एकमात्र तरीका है। और मैं हूँ कि लेटा हू। सतह भी बराबर है, शवासन भी ठीक ही है, पर दिमाग है कि अपनी धुनकी चलाए जा रहा है। पहले से भी अधिक तेज, पहले से भी अधिक चौकस घेरेबन्दी के साथ। यानी बिलकुल बेसतह बिलकुल नाबराबर और नागवार हरकत के साथ।

बगल म सिरहाने की ओर रखे रेडियो को खोल देता हूँ। यह आकाशवाणी का उर्दू प्रोग्राम है। पाकिस्तान के सगीत के साथ हिन्दुस्तानी जम्हूरियत का डोज दिया जा रहा है। ढेरो खत पाकिस्तानी श्रोताओं के उनके नाम सुनाये जा रहे हैं। जाहिर है कि अक्सर ये नाम खालिस मुसलमानी होंगे ही। इन्ह सुनकर मेरा हिन्दू मन फूलकर कुप्पा होता है। एनाउसर उनके फरमाइशी गीतो को इस तरह पेश कर रहा है जसे एयरइण्डिया के महाराजा अपनी मूछा की नोक पर अजता उठाए जापानी गीशा का चरण चुम्बन करने जा रहे हो। मुझे बडी खुशी होती है कि पाकिस्तान की लडकियाँ भी आकाशवाणी से कुछ फरमाइश करती हैं। रेडियो पाकिस्तान क ढाका केन्द्रो के कायक्रम मेरी अपनी कमजोरी हैं। भटियाली और माझी गीत सुनने के लिए जी बेकरार रहता है। कभी कभी पूर्वी बग की जनपदीया बोली बडी अबूझ बन जाती है। अँगूठा दिखा देती है। औरत है न सो यह हरकत भी अच्छी ही लगती है। पर पता नही क्यों लोकगायक के तीन तीन बल खात अलाप का जादू दिल पर एसा असर करता है कि मुझे लगता है कि सुदूर फले हरे-हरे सुगापखी धानी खेतो के ऊपर से मडराते पाखी चल आ रहे हैं। पद्मा की धारा म तरती नावो की छाया मुझे कोपेनहेगन के जे० ग्रेनलड के स्टिल फोटोग्राफ्स म अकित नावो की याद दिलाने लगती है। मरा वश चले तो मैं ब्रह्मदेव नारायण सिंह को पटना से और मोइनउद्दीन को ढाका से निकालकर टिबक्टू भिजवा दू। पता नहीं, इन दोनो के गले म इतना मर्दाना कप मरोड और जालिम जादू कहाँ से आया! अभी म शवासन म हाटस्ट्रेन का भुलवाने की कोशिश म था और य हैं कि

अपने कंठ का नाजायज फायदा उठाकर मुझे एक लम्बी, उदास कँटीली साँस खींचने के लिए विवश करते हैं जिसे सीने से बिना बाहर निकाले कोई जी नहीं सकता। कभी सुना है आपने मोइनउद्दीन को? नहीं सुना होगा। वह कोई नाम नहीं है। नाम में रखा भी क्या है? वह सिर्फ गीत है। मैंने पहली दफा उसे सुना था, तो लगा कि ऊबड़ खाबड़ जंगली पहाड़ों के ऊपर से नाचता थिरकता ब्रह्मपुत्र नद ताण्डव करता नीचे उतर रहा है। वह गा रहा था—

आमि त अबुला बधु हइलाम अंतरपुरा
कल मानिले नदीर जल मध्ये पडे चडा
रे बधु मध्ये पडे चडा।
कत कइरा बुझाइ पाखी नाइ से माने माना
भरा कलसी हइल र बधु दिने दिने उणा
रे बधु दिने दिने उणा।

पनघट की भरी कलसी, और पिंजड़े से उड़े पाखी का क्या ठिकाना! कितने दिन के साथी हैं भला ये? यह सारा दर्द अचानक पूर्वी बंग के 'महुया और नदार ठाकुर' के प्रेम प्रसंगों की स्मृतियाँ जगा जाता है।

यह गीतकार शायद नजरुल इस्लाम का मानस पुत्र है। कौन जाने शरत के 'श्रीकांत' के गौहर की मँडराती रूह हो या हो सकता है वह भी कहाँ कामाख्या की ही आत्मा न हो। विन्ध्याचल की आत्मा (पाकिस्तानी कवि असद मोहम्मद खाँ कराँची की प्रख्यात कविता) की तरह। उमानन्द भैरव का कृपापात्र होगा शायद! देखिए मैं कितना खुश हूँ मैं! अलाउद्दीन खाँ मैहर की माँ शारदा का नाम लेते हैं। डागरबन्धु कृष्ण का बिसमिल्ला ने गंगा घाट पर अँधेरे में किसी देवी का दर्शन किया था किन्तु मैं हूँ कि मुझे मोइनउद्दीन के गीत में खाली 'पाखी पाखी ही दीखते हैं। सुदूरेर पियासी' आत्माओं की तरह मँडराते पाखी पाखी पाखी। कहाँ नहीं हैं मनेर बन्धु कहाँ नहीं हैं ये आत्माएँ! कहाँ नहीं हैं ये पाखी! आप चटगाँव जाइए, अहमदाबाद जाइए, भिवंडी जाइए कहीं भी निकल जाइए यदि आपको जरा भी हार्टस्टन होता हो तो आपको लगेगा कि इस उपमहाद्वीप का सारा आकाश फिर व्याकुल पिपासित पाखियों से भरता जा रहा है।

खैर जाने दीजिए मोइनउद्दीन को। पाकिस्तानी है वह! और मैं क्यों सोचूँ मुसलमान के बारे में? हमारे देश के बारे में इनके मन में कहीं भी प्रीति नहीं कहीं भी आस्था नहीं। इनका भारतीयकरण होना निहायत जरूरी है। हो ही जाना चाहिए भारतीयकरण। यह कितने कलंक की बात है कि हिन्दुस्तान में रहकर मुसलमान हिन्दुस्तान की बात नहीं करते। कितना दाग है इनके जिस्म पर रूह पर मन पर।

मैं अब कुछ कुछ दूसरे ढंग से सोचने लगा हूँ। आपको क्या लगता है? जो लगता हो मुझे इसकी परवाह नहीं। इलाहाबाद का संगम हिन्दुओं को आकृष्ट करता है। 'निराला' को प्यार करता है। चीज़ों को गहराई तक देखने की ताकत देता है। आगरा की किताब में यह सब लिखा है। अभी चन्द्रदेव सान्याल के 'सोनोरस' रंगों का आस्वाद करता जैसे सारे चित्रों को, उनके आलोक में समेट रहा है। मेरा दिमाग फिर शुरू होने लगा है। ज्योंही 'मैं' की पूरब धुनका लहरों को रस्सियाँ खिंचने से कराने लगी है—'महरवा मैं दाग लगाइ आई चुनरी।

कबीर भी एक ही रंग था। आज जेठ पूर्णिमा है और मैं कबीर की वाणी की आत्मा के सामने श्रद्धा से झुक रहा हूँ। मैं जब जब कबीर के बारे में सोचता हूँ मुझे मकबूल हमीद के बूढ़े बाप का धर्मयुग में छपा फोटो याद आने लगता है। मैं कामारेड्डी में रहता था दुर्गाष्टमी पर। उन्हीं गाँव में एक रात को तालाब के किनारे पिपल पीपल के पेड़ का श्रृंगार होता है। मालूम बाबा था। वही कहरवा उनकी कजरी उतारते थे। उस रात ९ बजे से लेकर सुबह के ६ बजे तक कजरी दादरा गाता था। आपको क्या ही पता हूँ कि मैं शराब मन का आदमी हूँ। कभी-कभी दवाखाने से भी प्यार नहीं करती। और जहाँ ठीक खिड़की के नीचे सड़क पर दो गाड़ियों के हॉर्न बज रहे हों, वहाँ को बुलाता कोहराम सोचने में भी ज़्यादा मुश्किल काम है।

पर मैंने तीन-चार बातें में काम कैसे चलता? मैंने कई बार दवाखाना पाया। खिड़की के पास बैठ लिया। सामने वाले पीपल को भी भरकर गालियाँ दीं। मगर जो होना था वही हुआ। आखिर में रात दो बजे चारपाई छोड़कर खिड़की में आ बैठा। वलीउल्ला गाता पूरा था। बिलकुल मकबूल हमीद के बाप की तरह। उसकी दाढ़ी कबीर की तरह जोरदार नहीं थी छतदार, खासी उलझी उलझी मधुमक्खी के छत्ते की तरह थी। उस वक्त वह खड़ा था। उसका लम्बा कुरता निराला के कुरते से होड़ लेता था, हालांकि कद बिलकुल शान्तिप्रिय द्विवेदी जैसा था। मगर फुर्ती में वह काका हाथरसी को भी मात कर सकता है। उसकी पार्टी का ढोलकिया, हारमोनियमवाला और दूसरे संगतिये ज़रा भी कमजोर नहीं थे। पर जैसे उसे उन पर विश्वास न हो। रह रहकर वह चंग उठा लेता। उसकी पतली पर लोहे के छड़ की तरह सधी काली उँगलियों की चोट से चंग से जो आवाज़ निकलती, वह मुझे बार-बार विवेकानन्द शिला पर टकराने वाली समुन्दर लहरों की याद दिला देती।

मैं कबीर का प्रेमी हूँ। पंथी नहीं। कबीर पढ़ा है द्विवेदीजी से। मगर उसने चंग पर कबीर की जो कहानी सुनाई उसे मैंने किसी प्रकाशित अप्रकाशित ग्रंथ में कहीं नहीं देखा। वह कजली की धुन पर गा रहा था

काशी नगरी मे हो गए दास कबीर सुना हो साँवरिया ऽ ऽ ऽ।

जुलाहे की ईमानदारी, सत्यनिष्ठा और भक्ति से देवमडल काँपने लगा। ब्रह्मा, विष्णु महेश सिपाहियो का वेश बदलकर परीक्षा लेने चले। कबीर का घर पूछा तो गली मे खेलते कमाल ने तिडी बता दी। आकर अम्बा से बोला, "तीन सिपाही आ रहे थे जनाब मैंने कह दिया इधर कबीर-वबीर नहीं रहते। कबीर अपने 'वश डुबावन लडके' को भिडककर ताना-बाना म मगन हो गए। तभी साकल खडकी। कबीर ने दरवाजा खोला। तीनो सिपाही सामने थे। हाथ जोडकर स्वागत किया। नाश्ता पानी के लिए पूछा।

"हम कुक अमीन हैं" ब्रह्मा बोले, "आपने सरकारी टैक्स जमा नही किया। नीलामी करन आए हैं। नाश्ता पानी की दरकार नही।" 'जसी मर्जी' कबीर चुप रहे। "क्या-क्या सामान है आपके पास?' विष्णु ने पूछा—'यह ताना बाना, चरखा, धुनकी तो बेकार है। इसके अलावा बोलिए।' 'इसके अलावा भला क्या है मेरे पास, केवल मेरा तन!' कबीर ने कहा। "मनुष्य के तन का क्या उपयोग। चमडा तक कोई नही पूछता। हाड मास भी बकार हैं।' शिव ने कहा।

कबीर लाचार हो गए। सिर खुजलाने लगे—"तब क्या है जिसे नीलामी पर चढाऊँ!" उन्होने उदास होकर पूछा— जेल ही ले चलिए तब।

'आपके पास एक चीज और है, उसका कुछ दाम लग सकता है।' ब्रह्मा ने कहा।

'क्या?" कबीर हैरानी से बोले।

'तुम्हारी आत्मा!' ब्रह्मा ने कहा।

वलीउल्ला की सफेद सुरसुरी दाढी ब्रह्मा की दाढी की तरह लहरा उठी। उसने चग को थोडा ऊचा किया। वही तीन तोडवाला अलाप—यानी मोइन उद्दीन के ब्रह्म पुत्र का ताडव, या कौन जाने काशी की आत्मा का समूचा दद उसके गले मे थरथराया—

जो कुछ है सब ले लो मइया कहूँ कसम से बोल हो सावँरिया ऽ ऽ ऽ
ई आतमा तो नहीं बिकाई ई त है अनमोल हो सावँरिया ऽ ऽ ऽ

लगातार तालियों की गडगडाहट। मैं देख रहा हूँ। सभी झूम रहे हैं। चारो तरफ खडी जनता, रिक्शेवाले छोटे दूकानदार यात्री, पुजारी, पढे सभी पागल की तरह उसकी सुरसुरी दाढी को हवा मे उडते देख रहे हैं और चग में फँसी एक जोडी झाँझ की ठुनक के जादू से खिचे चित्र की तरह निश्चेष्ट हो गए हैं। आत्मा की बिक्री का विरोध और दाग लगी चुनरी—पर अफसोस—यह है काशी की आत्मा की ज्योति!!

मैं बार-बार सोचता हूँ कबीर का भारतीयकरण किसने किया? कव्वाली

गायक हबीबुल्ला का भारतीयकरण किसने किया ? अब्दुल हमीद का भारतीयकरण किसने किया ? हजारों हजार मुसलमान जो हिंदुओं के सुख दुख में हँसते और रोते हैं शादी-ब्याह में ढोल पर जाते हैं दरवाजे पर बैठकर दुख दर्द की बातें करते हैं सुहाग की चूड़ियाँ बेचते हैं, शहनाई बजाते हैं लहँगा और दूल्हे का कपड़ा सीते हैं—इनका भारतीयकरण किसने किया है ? इर्शाद अहमद मेरा मकान बनवा रहा था। सुपरवाइजर था। मैंने गृहप्रवेश पर कहा कि तुम पंगत में खाने क्यों नहीं बैठे ? यहाँ क्यों बैठे ? तो बोला यहाँ एकांत है बाबूजी ! भारतीयकरण का मतलब एकांत है भारतीयकरण का मतलब अलगाव है। भारतीयकरण का मतलब शिनाख्त करके सजा देना है तो यह नितांत अभारतीय है, गलत है अश्लील है !

आप निहायत भावुक हैं ? इसी से आप को हार्टस्ट्रेन होता है। सही जमीन पर खड़े होकर आप सोचने की कोशिश ही नहीं करते।" मेरे एक अध्यापक मित्र कहते हैं 'क्या आपने सुबह चार बजे अजान सुनी है ? मैं स्वीकृति मे गर्दन हिलाता हूँ। "आपकी नींद टूट जाती है कि नहीं ? मैं फिर स्वीकार करता हूँ। परसाल इलाहाबाद में दंगे हुए आप जानते हैं न ! मैं फिर हाँ करता हूँ। 'आपको मालूम है कि मुसलमानों के घरों से विस्फोटक सामान बरामद हुए ? आपने अमृतराय का लेख पढ़ा था ? उस शख्स ने सही बात कही थी तो उस पर मोर्चा बाँधकर नामवर सिंह मुद्राराक्षस में मथनाथ वगैरह टूट पड़े थे। क्या मुस्लिम साम्प्रदायिकता जैसी चीज इस देश में नहीं है ? आप लोग एकतरफा बातें करके चीजों को उलझाते हैं। कितने अब्दुल हमीद हैं ? कितने राही मासूम रजा हैं ? कितने हमीद दलवाई हैं इस मुल्क में ? बोलिए, आपने अपनी आँख से ताजिए उठने के वक्त बिजली और टेलीफोन के तारों को कटते नहीं देखा है ? क्या आपने जुलूसों में पाकिस्तान जिंदाबाद के नारे नहीं सुने हैं ? क्या अलअक्सा मस्जिद के जलने से ही दंगा हो सकता है चरगाँव या हिंदू मंदिर कोई अर्थ नहीं रखता ? यदि पान इस्लाम का नारा साकार करने की कोशिश जारी रहेगी तो स्थिति क्या सँभल पाएगी ? तुंकू अब्दुल रहमान इस्लामी संघ के जनरल सेक्रेटरी बनने जा रहे हैं। खान अब्दुल गफ्फार खाँ जैसा मुसलमान जिसने हिंदू यहाँ पर छूने रहे हम साम्प्रदायिक कहता है और सारे मुस्लिम देशों से मिलकर हिंदुस्तान के मुसलमानों को बचाने की अपील करता है। यह सब क्या है ? इस्लाम धर्म, संस्कृति धर्मस्थानों पर कहीं से कोई आघात पहुँचे तो दुनिया में एक दर्जन ऐसे मुस्लिम देश हैं जो इसका विरोध करेंगे गुट बाँधकर शोर-शराबा मचाएँगे पर यदि हिंदू धर्म, मंदिर या संस्कृति पर कोई चोट हो तो हिंदुओं की ओर से कौन बोले ? हिंदुस्तान ? वह तो धर्मनिरपेक्ष है ! अब बताइए आप ही कि अगर हमारी सीमा पर धर्म के दम अपनी हरकतें

जारी रखता है और हिंदुओं को ठेल कर हिन्दुस्तान की ओर भगाता है, उन्हें धर्मपरिवर्तन के लिए बलात् विवश करता है ऐसी हालत में यह सोचना कि हिंदुस्तान में संतुलन बना रहेगा, बुद्धि का दिवालियापन नहीं तो और क्या है ?' मित्र की बात सुनकर मैं चुप रह गया। वे मुझे निरुत्तर देखकर मुसकराते हुए चले गए। मैंने फिर शवासन साध लिया।

कहीं रास्ता नहीं दीखता। राजनीतिक दल अपना अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए एकमात्र अपने दल को ही अल्पसंख्यकों का संरक्षक घोषित करते हैं। साम्प्रदायिकता के लिए सबसे बड़ी मुलजिम ये राजनीतिक पार्टियाँ है, जो उचित अनुचित सभी कुछ भूलकर सिर्फ वोट पाने के लिए पैंतरे बदलते रहने का करिश्मा दिखाती रहती हैं। कोई खुलकर सही बात नहीं कहता। कुछ थोड़े-से ऐसे लोग हैं इस मुल्क में जो अतीत के भूत से संत्रस्त हैं। इन्हें साफ साफ जान लेना चाहिए कि न तो हिंदुस्तान में कभी हिन्दू शासन होगा, न तो लाख कोशिश करके भी मुगलिया सल्तनत को वापस बुलाया जा सकता है। इसलिए पाकिस्तान और उनके अनुयायियों के हाथ का खिलौना बनना मुसलमानों के हक में अच्छा न होगा। मुसलमानों को धर्म के नाम पर बहुविवाह की छूट कब तक मिलेगी ? कानून के दबाव से नहीं मुसलमान औरतों के धक्के से यह तथाकथित गलत प्रथा खत्म होगी। मुसलमानों को हमेशा-हमेशा के लिए यह मान लेना होगा कि वे हिंदुस्तानी आबोहवा की उपज हैं। उन्हें हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक फैले विशाल देश की प्राकृतिक संपत्ति फूल पौधे फसलें और ऋतुएँ विरासत में मिली हैं जो अरब देशों से किसी भी तरह कम खूबसूरत नहीं हैं। उन्हें एक ऐसे सरसब्ज मुल्क के नागरिक होने का गौरव प्राप्त है, जो खुद में किसी भी बड़े से-बड़े संघटन से बड़ा है। सवाल है कि हिंदू और मुसलमान दोनों ही अपनी आत्मा की बिक्री को रोकें। चाहे खरीदने वाले राजनीतिक नेता हों पुजारी पंडे हों, मुल्ला मौलवी हों, हमें अपनी आत्मा की, व्यक्तित्व की, हर कीमत पर रक्षा करनी है।

पर यह सब कैसे होगा ! मेरे दिमाग में एक अनूठा शब्द उछल पड़ता है—अविससा ! ! अविससा ! ! अविससा ! ! !

हम १९७० में बैठकर यदि दुरुस्त तरीके से आत्मपरीक्षण करें तो लगता कि हम सौ साल पीछे वाली उपलब्धियों को भी खो चुके हैं। आज से सौ साल पहले रामकृष्ण ने कहा था 'यह तो एक जलाशय है एक ओर हिंदू अपने घड़े से जल भरता है दूसरी ओर मुसलमान उसे 'आब' कहता है और तीसरी ओर साहब उसे वाटर। पर जलाशय तो वही रहता है। (गास्पेल आफ रामकृष्ण पृ० २०४) स्वामी विवेकानंद एक कदम और आगे जाकर कहते हैं भारत के विनाश पर मुहर उसी दिन लग गई जब हमने म्लेच्छ शब्द का

अविससा=शवासन+खामख्याली /

भाविष्कार किया और दूसरा से बच गए (सेलेक्टेड वर्क्स, पृ० १८०) विवेकानन्द एक ऐसे हिन्दुस्तान का सपना देखते ही रह गए जिसका मस्तिष्क हिन्दू वेदांत से और जिस्म इस्लामी रचना से निर्मित हो।' (लेटर्स फ्राम कोलम्बो टु अल्मोड़ा पृ० ३६०)

श्री अरविन्द इसी साम्प्रदायिकताहीन अध्यात्मवादी भविष्यत् भावना के अग्रदूत थे। वे तो अध्यात्म और धर्म को एक-दूसरे का विरोधी तक कहने को तैयार हैं, 'द ह्यूमन साइकिल' का 'द क्वेस्ट ऑफ द इन्टलेक्चुअल एन्ड ऐथीकल' अध्याय हमारे देश के राजनेताओं को एक बार पढ़ लेने में अपमान का अनुभव नहीं होना चाहिए। वैसे राजनीतिक व्यक्ति का मतलब ही होता है पढ़ने से या कुछ जानने से नफरत करना। 'धार्मिकता मनुष्य की आत्मा में ईश्वरीय राज्य का नाम है किसी पंडे महन्त, पोप या मुल्ला की सल्तनत का नहीं।' उनका एक दूसरा उद्धरण भी देखिए— धार्मिक सम्प्रदायों के झगड़े उन बरतनों के झगड़ों के समान हैं जिनमें हरेक यही कहता है कि अमरता देने वाला सुधारस सिर्फ उसी में भरा है। हम बरतनों के पीछे क्या लड़ें हमें सुधारस चाहिए, चाहे वह किसी भी बरतन में भरा हो।

धर्म का नाम लेकर दूसरों पर अत्याचार करने वालों के प्रति तीव्र नफरत से वे लिखते हैं यह एक अद्भुत चमत्कार है कि ये (तथाकथित धार्मिक) भगवान को तो प्यार कर सकते हैं परन्तु मनुष्यों से प्यार करने में असमर्थ होते हैं। तब भला वे किससे प्रेम करते हैं?'

हिन्दू धर्म की ये महान विभूतियाँ धर्म के कर्मकांड को महत्त्व नहीं देतीं। ये सब अध्यात्म को धर्म का चरम लक्ष्य मानते हैं और उसी को दृष्टि में रखकर ये सभी धर्मों की सीमाओं से ऊपर उठकर सिर्फ मानवता को देख पाते हैं। ऐसा नहीं है कि हिन्दू मात्र इस ऊंचाई को पहुँच गया है। यहाँ भी काफी कर्मकांडी कीचड़ है, पर इसमें कमलों का भी अस्तित्व रहा है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

श्री विवेकानन्द या श्री अरविन्द कोई नई उपलब्धि नहीं हैं। ये उस हिन्दू संस्कृति की सहज परिणति हैं, जो बहुत पहले से अध्यात्म की ओर मुड़ी रही है। भारतीय मुसलमानी धर्म के साथ एक गड़बड़ी यह हुई कि उसकी मध्यकालीन समृद्ध संस्कृति की धारा भारत में आज के भारत में, रुद्ध हो गई है। हमें पुनः कबीर, हजरत निजामुद्दीन चिश्ती हाजी बाबा हजरत ख्वाजा चिश्ती, शेख हिसामुद्दीन बंगाल के शीराज साइं लालनशाह, शेख मदन को वापस बुलाना होगा। आज भी बाउलों की आत्माएँ हमसे पूछ रही हैं— 'यह सब क्या हो रहा है। तुम पागल की तरह किस मंदिर मस्जिद में खोज रहे हो भाई!

तोमार पथ ढायकाचे मंदिरे मस्जिदे
तोमार डाक शुन आमी चलते ना पाइ
रुइखा उड़ाय गुरुते मुरशेदे ।

इन गुरुओं और मुर्शिदों से, पडे और मौलवियों के हाथ अपने को बेचना कब तक चलेगा ? और हम हैं कि हमारे पास इन सवालों का कोई जवाब नहीं है। मध्यकाल की कहानियाँ याद आती हैं, और आँखें भर जाती हैं। कहाँ गए हुमायूँ और कमवती, कहाँ गई वह राखी ! कहाँ गया अमरसिंह राठौर, उसका मित्र नौशहवाज पठान ! कहाँ गए बाजबहादुर और रूपमती ! कहाँ गए जगतसिंह और आयशा ! लक्ष्मीबाई का मुसलमान तोपची, शिवाजी के मुसलमान सैनिक, गुरु गोविन्दसिंह की रक्षा करने वाले कहाँ गए ? जाने वे कैसे लोग थे अभी सौ वर्ष भी नहीं हुए कमल लता और गौहर की काल्पनिक दास्तान तक आँखें गीली कर जाती थीं। ऐसा भारतीयकरण तब हुआ था, जब कोई नारा नहीं दिया गया था। जब भारत धर्मनिरपेक्ष नहीं था, न विज्ञान आया था।

हमें फिर से ऐसी महान आध्यात्मिक विभूतियों को बुलाना होगा, अपने भीतर उन्हें जगाना होगा जिनके चरणों पर दरगाहों पर, हिन्दू समूहबद्ध होकर माथा झुकाने में कभी भी पीछे नहीं रहा है। क्यों नहीं पैदा होती अब ये विभूतियाँ ? कहीं महान मुस्लिम संस्कृति की धारा में ही तो अवरुद्धता नहीं आ गई है ? यदि ऐसा है तो उसका कूड़ा करकट साफ करके उसे फिर से निर्मल और प्रवाहपूर्ण बनाना होगा। यह कार्य नई पीढ़ी के मुस्लिम युवकों को ही करना होगा। हिन्दुस्तानी धर्मों को अधिक से अधिक आध्यात्मिक दिशा में मुड़ जाने की जरूरत है। पर यह कार्य न तो पंडे-पुजारी कर सकते हैं, न राजनीतिक नेता, न तो महंत मौलवी और न तो फतवा देने वाले धर्मगुरु ही। यह कार्य नई पीढ़ी के लोग ही कर सकते हैं पर कितना दुखद है कि आज सबसे बड़े कट्टर सम्प्रदायवादी नई पीढ़ी के युवक ही होते जा रहे हैं। तो यह है अविससा का पहला बीजाक्षर—यानी अ=अध्यात्म।

धर्म आध्यात्मिकता वगैरह सबके विश्वास की चीजें नहीं हैं। आधुनिक चित्त इन बारीक और अदृश्य तत्वों की ओर झुक नहीं पाता। आज की बुद्धि स्पष्ट, तर्कसंगत, प्रयोगात्मक तथ्य और प्रमाण की अपेक्षा करती है। यह कार्य आज के युग में विज्ञान कर रहा है। विज्ञान बड़ी तेजी के साथ धर्म की अनावश्यक रूढ़ियों को तोड़कर भविष्यत् मानवता के नये तत्त्व गढ़ता जा रहा है। अणुविस्फोट से भी अधिक महत्तर क्रांति डॉ० खुराना के जीन-तत्त्वान्वेषण में छिपी है जो कुछ दशकों बाद ही नस्लों की आदतें बदल सकती है भविष्यत् मनुष्य का सारा मिजाज सोचने विचारने का तरीका और जिज्ञासा की सम्पूर्ण

हरकता को समूल नष्ट कर सकती है। पर इसमें काफी विलंब है। जाने वह दिन कब आए ?

यूरोप में वैज्ञानिक क्रांति ने जो तब्दीली शताब्दियों में पैदा की, वह हिन्दुस्तान में कुछ दशकों में ही घटित हो रही है। पर मुझे यह सोचकर बड़ी हैरानी होती है कि क्या यही हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के मुसलमानों में यानी भारतीय उपमहाद्वीपीय मुसलमानों में, जिनके भीतर हिन्दुस्तानी नस्ल का चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, एक ही रक्त बहता है जगदीशचन्द्र बोस रमण, डॉ० भाभा डॉ० सिरोही, डॉ० खुराना जसे लोग पैदा हो रहे हैं। मैं यह आरोप की गरज से नहीं कह रहा हूं। सोचने के लिए कह रहा हूं। कहीं धार्मिक आग्रह के कारण भारत में दीक्षित मुसलमानी प्रतिभाएँ विज्ञान की इस नई शक्ति को पकड़ सकने में कोई दिक्कत का अनुभव तो नहीं करतीं ? आज से २५ वर्ष पहले डिस्कवरी आफ इंडिया में प० जवाहरलाल नेहरू ने बड़े अफसोस के साथ लिखा था—'मुसलमान हिन्दुओं तथा दूसरे धर्मावलम्बियों की अपेक्षा विज्ञान और औद्योगिक विकास में बहुत पिछड़े हैं हिन्दू भी पिछड़े हैं, कुछ ऐसे भी हैं जो रूढ़ परम्परा से बहुत ज्यादा चिपके हैं, फिर भी उन्हें विज्ञान और प्राविधिक संस्थानों आदि के मामले में कई महत्वपूर्ण प्रतिभाओं को जन्म देने का श्रेय प्राप्त है। छोटी-सी पारसी जाति भी काफी आगे है।" (डिस्क्वरी आफ इंडिया, पृ० ३९६)

वैज्ञानिक दृष्टि ने संपूर्ण विश्व में धर्मों की पुरानी मान्यताओं को पुन परीक्षित करने के लिए बाध्य किया है। श्री एस० सी० वर्केट ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ *कम्परेटिव रेलिजन में विज्ञान और पश्चिमी प्रभावों की प्रतिक्रिया से* उत्पन्न हिन्दुत्व की नई चेतना के बारे में लिखा है 'श्वाइत्जर के शब्दों में विश्व और जीवन को नकारने' वाली हिन्दू कर्मयोग की धारणा विश्वव्यापी आकर्षण का कारण बनी है। जब तक गांधी का प्रभाव इस देश पर वर्तमान है तब तक मार्क्सवादी धारणाओं के लिए शायद ही जगह मिले। किन्तु यदि नेहरू या दूसरे जो उनसे कहीं ज्यादा परिवर्तनप्रेमी हैं अपने देश की जनता के लाभ के लिए, महात्मा गांधी के प्रभाव को हटाने में सफल हो जाते हैं, तो शायद भारत में तुर्किस्तान और चीन की ही तरह भयानक उथल-पुथल मच कर रहेगी' (पृ० १८२) इस निष्कर्ष के बारे में अभी कुछ कहना ठीक नहीं। इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि हिन्दू धर्म निरंतर आधुनिक प्रभावों से टकरा रहा है और अपने को बदलने की कोशिश कर रहा है। किन्तु क्या यह स्थिति इस्लाम के साथ भी दिखाई पड़ती है ? वर्केट के ही शब्दों में—'भारत के कुछ पढ़े लिखे मुसलमान गंभीरतापूर्वक इस्लाम के सभी पहलुओं के—अध्यात्मतत्त्व नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान आदि के प्रकाश में पुन परीक्षण की

आवश्यकता महसूस करते हैं।' (पृ० २८९) किन्तु इसी लेखक ने बड़े दुख के साथ यह स्वीकार किया है—'जोर्डन, मिस्र लीबिया यहाँ तक कि पाकिस्तान में भी धार्मिक रूढ़ियों को तोड़ने वालों पर सख्तियों के काफी उदाहरण मिलते हैं। और यह सब बीसवीं शताब्दी में हो रहा है।" (पृ० २८९) यह एक विचित्र बात है कि आधुनिकता का प्रभाव मुस्लिम समाज पर अपेक्षाकृत बहुत कम दिखाई पड़ता है।

मेरा ध्रुव विश्वास है कि जैसे-जैसे विज्ञान का प्रभाव बढ़ता जाएगा जैसे जैसे आदिम प्राकृतिक गुत्थियों का तर्कपूर्ण प्रामाणिक समाधान उपस्थित होता जाएगा, विश्व के सभी धर्म सामूहिक कानून संहिता के स्थान पर व्यक्तिगत चीज होते जाएंगे और उनका रूप मात्र आध्यात्मिक निष्ठा के अलावा और कुछ नहीं रहेगा। यह प्रक्रिया जितनी ही तीव्र होगी, धार्मिक दंगे और टुच्चे सांप्रदायिक कलह उतने ही कमजोर दिखाई पड़ेंगे।

इस्लाम का भारतीयकरण राजनीतिक नारों से कदापि न होगा, क्योंकि अव्वल तो उसका भारतीयकरण बड़े अदृश्य रूप से तभी शुरू हो गया, जब मुसलमानी कारवाँ गंगा के तट पर पहुंचा। यह परिवर्तन भारतीय धरती की रासायनिक प्रक्रिया ने किया है और कर रही है। जो कुछ शेष है उसे कोई संघ या संघटन नहीं करेगा। करेगा तो अलगाव बढ़ेगा। उसे तो विज्ञान ही करेगा जैसा कि वह हिंदू धर्म के साथ कर रहा है। वैसा ही इस्लाम के साथ भी होगा हो रहा है।

अविसिसा के दाएं बीजाक्षर हैं संगीत और साहित्य! संगीत के क्षेत्र में भारत और पाकिस्तान दोनों को मिलाकर देखें, तो यह कहने में किसी को भी आपत्ति न होगी कि शायद इस दिशा में मुसलमानों का योगदान हिन्दुओं की अपेक्षा कहीं से भी कम नहीं है। शायद कुल मिलाकर पलड़ा भारी ही पड़े। और क्या यह सही नहीं है कि शुद्ध इस्लाम संगीत को प्रोत्साहन देनेवाला धर्म नहीं था? यह भारतीय इस्लाम की देन है कि उसने सूफी संतों की दरगाहों तक को भजन और कीर्तन से मुखरित करने में बाधा नहीं डाली। भारतीय संगीत का स्वर्णयुग अकबर के शासनकाल में उपस्थित हुआ। मुगलिया सल्तनत के गीतकारों और वृन्दावन के युगल सरकार के भक्त गीतकारों की प्रतिद्वंद्विता, प्रेम सौहार्द और इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न संगीत की अछूती ऊँचाइयाँ कहाँ से आई?

औरंगजेब संगीत को जमीन के भीतर इतना नीचे गाड़ देना चाहता था कि उसकी गंध तक न आए। उसी के सूबेदार फकीरुल्ला ने मानकुतूहल का फारसी में अनुवाद किया। फकीरुल्ला ने बड़े विश्वास से लिखा है—"शहंशाह अकबर के काल का कोई भी गायक मानसिंह तोमर के काल के गायकों से

सगीतशास्त्र के नाम म टक्कर नही ले सकता।" (मानकुतूहल, प० १२६) खुसरो, गोपाल नायक वजू और बाद म हरिदास, तानसेन आदि सगीतकारो ने अपनी साधना स एक ऐसे सगीत को जन्म दिया जो न हिंदू सगीत है न मुस्लिम सगीत। यह शुद्ध हिंदुस्तानी सगीत है।

और कहना न होगा कि आज भी सगीत और इसी से सम्बद्ध लोकप्रिय फिल्मी गीत और फिल्मी जगत ने हिंदू मुस्लिम एकता को एक जीवत रूप प्रदान करने म बडी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

सबसे दयनीय स्थिति इस दिशा म साहित्य की रही है। जिस साहित्य ने किसी जमाने मे इन दोनो सस्कृतियो के स्वस्थ सम वय की दिशा म अप्रतिम भूमिका निभाई थी, वही कइ कारणो से फिरकापरस्ती का शिकार हो रहा है। आज शायद ही कोई उर्दू कवि या अफसानानिगार हो जिसकी रचनाए उर्दू म छपने के पहल हिंदी मे न छपती हो। कृष्णचदर जिन्होने उर्दू की हिमायत मे सबसे गलत भूमिका निभाई है हिंदी पाठको और अखबारो से सर्वाधिक श्रद्धा और पूजा पाते रहे हैं। उर्दू किसी भी प्रदेश की इलाकाई जबान इसलिए नही हो सकती क्योकि इसे इस्तेमाल करने वाले किसी भी इलाके मे बहुमत म नही दिखाई पडते। पूरे प्रदेश मे कस्बा और शहरो मे रहने वाले मुसलमानो की सख्या जोडकर उर्दू के लिए 'इलाकाई जबान का दर्जा माँगना एक अनुचित प्रयास मात्र है। उर्दू को मजहब के साथ जोडना दूसरी गलती है और उर्दू के नाम पर कम्युनिस्टो और तथाकथित प्रगतिशीलो का आख मूदकर हल्ला मचाना एक तीसरी गलती है जो हिन्दी और उर्दू साहित्य और उनके साहित्यकारो के बीच विद्यमान मित्रता और बधुत्व को नष्ट कर रही है।

हिंदी साहित्य प्रगतिशील नही रहा और रातोरात उर्दू क्रांति की भाषा हो गई यह मुगालता बहुत दिनो तक चलता रहा। *यह एक प्रगतिशील साम्प्रदायिकता है जो प्रतिक्रियावादी साम्प्रदायिकता से कम खतरनाक नही होती।* (इस शब्द के लिए लखक नागरजी का ऋणी है।) मुझे याद है मैं अलीगढ विश्वविद्यालय मे हिंदी कहानी पर भाषण देने गया था। उस जलसे म जिसम उर्दू और हिंदी विभागो के अनेकानेक प्राध्यापक और छात्र छात्राए उपस्थित थीं डा० अलीम सदर थे। उस वक्त वे इस्लामी उच्चाध्ययन केंद्र क सचालक थ अब कुलपति हैं। एक जमाने म वे प्रगतिशील लखक सघ के स्तभ भी थ। मैंने वहाँ एक निहायत खुशगवार वातावरण पाया, एक खास तरह की आवभगत तहजीब और बातचीत का सलीका देखा। मैंने भाषण के सिलसिले म तरक्कीपसन्द मन्च यानी प्रगतिशील लखक सघ की पिछली कार गुजारियो की मजम्मत भी की कि इन्होने सच्चे और प्रामाणिक साहित्य की

जगह अखबारनवीसी को तरजीह देने और उसके ढिंढोरची बनने का गलत काम किया था। डा० अलीम ने स्वीकार किया कि एक जमाने में ऐसी गलती हुई, जिसके कारण सही किस्म के साहित्यकार इस आन्दोलन से कतराने लगे और धीरे धीरे प्रगतिशील लेखक संघ और उसके आंदोलन में भयकर गिरावट आई।

अभी शायद समय नही आया है इसलिए यह बताने की जरूरत नहीं है कि राही मासूम रजा को साफगोई भरे राष्ट्रीय विचारों को व्यक्त करने के कारण किन किन दिक्कतो का सामना करना पडा है। उनका एक बहुत ही संजीदा करने वाला खत मेरे पास है। हमीद दलवाई को जो कडवे घूट पीने पड रहे हैं वह भी किसी से छिपा नही है। हिन्दी का लेखक अपनी धरती से इस तरह कटा है कि उसके बारे में कुछ कहना ही बेकार है। आज से पांच साल पहले परिमल के वार्षिकोत्सव पर मैंने एक निबन्ध पढा था। शीर्षक था—'आधुनिक परिवेश और बौद्धिक वचना'। उसका एक अंश मुझे इस संदर्भ मे उद्धृत कर देना उचित लग रहा है 'पिछले दिनों राउरकेला पूना, कलकत्ता, अलीगढ, सागर जबलपुर आदि मे दगे हुए। क्या आज के नवलेखन मे इस समस्या (हिन्दू मुस्लिम साम्प्रदायिकता) पर पिछले १८ वर्षों मे कुछ भी लिखा गया? यहूदियो की समस्या पर यूरोप के आधुनिक से आधुनिक साहित्यकारों ने जिस संवेदना और गहराई के साथ लिखा है, क्या वह हमारे लिए विचारणीय नही है? (आधुनिक परिवेश और नवलेखन, पृ० १२) मुझे बडी हैरानी होती है। अचानक कोई समस्या जब सारे राष्ट्र को हिलाने लगती है, तो हिन्दी लेखक वक्तव्य देने लगते हैं। उसके पहले भी तो उस समस्या के बीज बिन्दु समाज में प्रकट छिपे रहते ही होंगे, फिर उस समय कुछ न करना, कहना और बाद में अखबारो मे स्टेटमेंट' देना क्या लेखकीय सूझबूझ और समाज की नब्ज पहचानने की असमर्थता का प्रमाण नही है? पर हमारे यहा यही होता है।

मैं ही क्यो परेशान होऊँ? मौके पर मैं भी 'स्टेटमेंट' देकर पाँचो सवारो मे नाम लिखा सकता हू। हा स्टेटमेंट' काफी गोल मटोल होना चाहिए ताकि समय आने पर चित भी अपनी पट भी अपनी वाला तरीका कारगर रूप से इस्तेमाल किया जा सके। मेरे खाटी व्यावहारिक प्राध्यापक मित्र मुझे समझाते हैं—'पता नही अगले दो चार साल मे ऊट किस करवट बैठे। इसलिए अच्छा है कि आप किसी भी सिद्धान्त की हिमायत करके अपने करियर को कलंकित न कीजिए।' वे हँसते हुए चले गए। शवासन में लेटने के अलावा मेरे पास कोई रास्ता नही। कलक दाग दाग कलक। जकडबन्दी का समर्थन सफलता की कुजी है मानवता की हिमायत करियर को कलकित करने वाली चीज है। ऐसा है हमारा समाज।

हिन्दू, मुसलमान, पारसी, सिख ईसाई, कितने कितने रूप हैं कितने कितने वेश हैं। इनके भीतर की मोहन मानवता को जिसने नही देखा, यकसां आकपक, यक्सा दिलकश, जिसने इस रूप को देखा ही नहीं, वह जान ही नहीं सकता कि कलकी या कलकिनी बनने का अथ क्या होता है। मुझे अचानक माईकेल की पक्तियाँ याद आती हैं

जिसने देखा कभी न मन भर मोहन रूप
बिना बाधा।
वही न जान सकता है क्यों कर कुल
कलकिनी है राधा।

परस्मपद भूतकाल

पाच श्रद्धाजलियाँ

बीहड़ पथ के महायात्रिक राहुल

जब-जब मैंने राहुलजी के बारे में सोचा है, मेरी आँखों के सामने गाँव के छप्परे पर खड़ा बूढ़ा पीपल खड़ा हो गया है—सैकड़ों गर्मी बरसातें झेले हुए फिर भी उन्नत कण्ठ और उन्नत वक्ष का बूढ़ा पीपल। अनगिनत पंछी जिसकी सघन पत्तियों की छाया में नीड़ बसाये विश्राम लेते हैं। अनेक दिशा देशान्तरों से आते हुए, आते जाते हुए पक्षी आकाश में इन्द्रधनुषी वितान बनाते जिसके शीश पर निरन्तर मंडराया करते हैं। गर्मी तपती है तो जड़ से सटकर चौगिर्द गाय बैल भैंस-पड़वे खड़े, बैठे, अधलेटे जुगाली करते रहते हैं और जिसकी आश्वस्तकारी छाया में प्रकृति के उत्पातों से परेशान कृषक निरन्तर शरण ढूँढते रहते हैं। ऐसा ही आच्छादक, चिर परिचित उन्मुक्त अपनपौ से भरा हुआ ग्रामीण व्यक्तित्व था राहुल का। विशाल शरीर भरा पूरा चौड़ा चकला सीना वृषभ-स्कन्ध। उनके मानस में जाने कितने देश-देशान्तरों की स्मृतियों के आकुल नीड़ थे कितने कितने स्वर और रंगवाले मनुष्यों के प्रेम के स्वेद फूल और आकांक्षाओं के स्वप्निल गुच्छे थे।

मैंने राहुल को पहली बार १९४७-४८ में देखा सारनाथ में। मूल गन्ध कुटी विहार के वार्षिक अधिवेशन पर दक्षिण एशिया के बौद्धों का सम्मेलन था। मैं तब उदयप्रताप कालेज में पढ़ता था और उस समय मेरा जैसे असमय वैराग्य और आत्मघाती उदासी से पूर्ण सायुज्य-सा हो गया था। राहुल को वहीं पहली बार मंच से भाषण देते देखा। लम्बा डील डौल हल्के बादामी रंग का मोटा ऊनी कुरता काला चितकबरा सा जाकेट और काफी चौड़ी मोहरी का पायजामा पहने—उनके कंधे से एक कैमरा भी लटक रहा था जो पत्थरों की अमिट चित्र लिपियों को अपनी मैगनेट आँखों में बाँध लेने के लिए काफी मशहूर हो चुका था। मैंने सुना था कि राहुल बौद्ध हैं। नाम ने रूप की जो सहज काल्पनिक छवि उरेही थी, वह अजन्ता की किसी काली गुफा में ही बन्द रह गई। सामने खड़े

पे राहुल, सहज उन्मुक्त स्वप्नदर्शी जीवन के निमायी राहुल, जिनकी आँखों में बौद्धकालीन गणराज्य और बाईसवीं सदी की रंगीन ग्राम्य संस्कृति को साकार करने के लिए आतुर आकुल भावनाओं का प्रकाश था और जिनके शरीर में प्रागैतिहासिक प्रिय प्रार्यों की निर्भीकता और सहृदयता से परखकर शूर युवकों की मस्ती का बोध था।

इसके बाद बहुत वर्षों तक राहुल से मिलना न हो सका। उनके गहजिया व्यक्तित्व ने एक चाट जरूर जगा दी कि मैं पुस्तकालयों से किताबों की दूकानों से, अथवा मित्रों से, कहीं भी राहुल की कोई किताब पा जाऊँ तो उसके लिए अवसर अनवसर की परवाह किए बिना ललक उठूँ और जस भी हो सके उसे समाप्त करके ही चैन पा सकूँ। उन्हीं दिनों 'वोल्गा से गंगा' 'जय यौधेय' और 'सिंह सेनापति' पढ़ा। इन कथाकृतियों ने मेरी आँखों के सामने से बेडौल और रुक्ष इतिहास का पाषाणी आवरण हटा दिया जो अतीत के जीवन को अपनी संकुचित सीमाओं में बाँधकर निरंतर आहत करता रहता है। बहुतों की शिकायत रही है कि राहुल ने इन कथाकृतियों में इतिहास के अंगुलि निर्देश का तिरस्कार किया है। पाषाण कथाओं को कल्पना का जामा पहना दिया है और तत्कालीन संस्कृति के चित्रण में इतिहास विरुद्ध दिशाओं का सहारा लिया है। ऐसे वन्ध्या इतिहास गौहारिकों को कौन समझाए भला कि साहित्यकार इतिहास का भीरु उपासक नहीं, अपने बाह्य कलेवर के भीतर अदृश्य रूप से प्रवाहित स्रोतस्विनी का सचेत अवगाहक होता है। वह इतिहास की पाषाणी को अपनी निष्ठा और कल्पना की संजीवनी से मानवी में बदल देता है। शर्त सिर्फ यही है कि यह सब करते हुए वह सदा मनुष्य की अप्रतिहत जीवन-यात्रा के सभी मोड़ों को ठीक से समझे और सरिता की गति को न तो गँदला करे और न बदलने के लिए प्रयत्नशील हो। राहुल ने जो कुछ किया वह सब मनुष्य की भविष्यत यात्रा को दृष्टि में रखकर, उसके लिए सहज सम्बल और पाथेय जुटाने के लिए महत उद्देश्य से प्रेरित होकर ही किया। और कभी भी संकुचित ऐतिहासिकता और यथार्थ का अभिनन्दन नहीं किया।

यह क्या कम आश्चर्य की बात है कि जिसे ये संकुचित इतिहास 'गौहारिक' स्वप्नप्रिय और काल्पनिक कहते रहे उसने अपने स्वार्थ के लिए अथवा रूमानियत के वशीभूत होकर कभी भी व्यक्तिपूजा और अतिरिक्त श्रद्धा का चारणगान नहीं किया। राहुल ने कई जीवनियाँ लिखी हैं स्तालिन जैसे परुष और डाग्मेटिक व्यक्तित्व की भी किन्तु उन्होंने कहीं भी भावुकता से प्रेरित होकर लच्छेदार भाषा में—किसी भी व्यक्ति का जयगान नहीं किया उन्होंने कभी भी बड़े से बड़े व्यक्तित्व के सामने घुटने नहीं टेके कभी भी राजनीतिक पुरुषों की सत्ता और शक्ति के सम्मुख माथा झुकाकर लेखनी को अपदार्थ नहीं बनाया कभी

भी चाकचिक्य, वाहवाही, अथवा अन्तरर्राष्ट्रीय लेखक माने जाने की गन्दी स्पृहा से प्रेरित होकर चाटुकारिता नहीं की। वे ऐसा इसलिए नहीं कर सके, क्योंकि वे लेखक की मर्यादा और सृजन का सही उद्देश्य दोनों जानते थे। राहुल की गम्भीरता निश्छल व्यावहारिकता, अस्मिताहीन मुसकराहट किसे भूल सकेगी। वे निराला के पैर छू सकते थे, हजारीप्रसाद द्विवेदी को अँकवार मे बाँध सकते थे और छोटे से छोटे साहित्यकार के प्रति अपनत्व से भर सकते थे, क्योंकि वे साहित्यकार थे। वे राजनीतिक व्यक्तित्व के सामने भीगी बिल्ली और साहित्यकारों के बीच में अफलातून बनना और अपने ठिगने व्यक्तित्व को दूसरों पर आरोपित करके निकृष्ट उद्देश्य से प्रेरित होकर विश्व निंदक का बाना धारण करना कोई शान की बात नहीं समझते थे।

राहुल अपने विशाल साहित्य निकेतन के शिल्पी इंजीनियर श्रमिक और राजगीर सभी कुछ थे। अपनी बहुविध और अनेक क्षेत्रव्यापी कृतियों की उन्होंने स्वयं योजना बनाई सामग्री एकत्र की खून पसीना एक करके ईंटों पर ईंटें जोड़ी और धैर्यपूर्वक उसके प्रत्येक पहलू को उभारने और चमकाने का यथासम्भव प्रयत्न भी किया। उन्होंने अपनी अधिकांश कृतियों की विषयसूची और अनुक्रमणिकाएँ भी स्वयं तैयार की। वे दूसरों के श्रम का अपहरण करके अपने विश्वकोषिक ज्ञान का प्रदर्शन करने वाले कृतिकार नहीं थे। उन्होंने कभी भी छोटे से छोटे शोधकर्त्ता के श्रम को भी आत्मसात् करने का प्रयत्न नहीं किया क्योंकि वे श्रम का अर्थ और उसका मूल्य दोनों जानते थे। वे परभृत नहीं थे, अमरबेली वृत्ति से उन्हें नफरत थी। इसीलिए न तो उन्होंने कभी भी दूसरों के श्रम का शोषण करके आत्म प्रदर्शन के लिए पिरमिडस खड़े किए और न तो अपने व्यक्तित्व को ममी की तरह उसमें प्रतिष्ठित कराने का प्रयत्न ही किया।

दर्शन, इतिहास, पुरातत्त्व, भाषाशास्त्र वैज्ञानिक कथा नाना भाषाएँ हस्तलेख पुरालेख समाजशास्त्र राजनीति, अर्थनीति लिपि शास्त्र मुद्रालिपि, उपन्यास कहानियाँ एकांकी यात्रावर्णन संस्मरण जीवनी काव्य संग्रह इतना इतना विशद और बहुरंगी उनकी प्रतिभा का क्षेत्र था और इतना इतना कठिन, बीहड़ कष्टों भरा था उनका लेखन-पथ। राहुलजी अध्ययन और लेखन के बीहड़ पथ के महायात्रिक थे। अपनी पुस्तक 'कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा' की एक प्रति प्रकाशित होने पर मैंने उनके पास भेजी। उनका पत्र मिला— तुमने अवहट्ठ सम्बन्धी जो पथप्रद कार्य किया वह तो है ही मुझे प्रसन्नता है कि इस बीहड़ पथ पर चलने के लिए हिन्दी को दो सबल पैर मिले। मैं पत्र पढ़कर लज्जा से गड़ गया था। मेरी कठिनाइयाँ गोपद थीं तो राहुल की समुद्र। राहुल को इन कार्यों को करने में जो पीड़ा और अपमान झेलना पड़ा वह हमेशा हमेशा के लिए छिपा-ढँका ही रह जाएगा। उसे कोई जान न पायेगा। शायद १९५५

मे वे यात्री प्राण। उनका पूरा शरीर, स्वास्थ्य, क्रोध, प्राभा सभी कुछ मधुमेह की भेंट हो चुका था। देखकर पहचानना भी मुश्किल था सामने राहुल नहीं किसी महत स्तूप का खण्डित जजर ढाँचामात्र खड़ा था। मिलते ही पूछा, 'कहा क्या कर रहे हो आजकल ?" मैं उन दिनों सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' विषय पर शोध कर रहा था। और हस्तलेखों के सिलसिले में राजस्थान की यात्रा समाप्त करके लौटा ही था। मैंने उन्हें विषय बताया और हस्तलेखों के लिए यात्रा का विवरण। वे मुसकराये। कमी रही यात्रा ?' उनके चेहरे पर एक अजीब तरह की हँसी थी, उदासी तिक्तता और आत्मक्षोभ भरी। मैं बड़ा भरा हुआ था। राजस्थान के एक साहित्यिक व्यवसायी के व्यवहार से इतना इतना चिढ़ा था कि मैं गुस्से में जाने क्या-क्या बकता रहा। मैंने अन्त में यह भी कहा कि मैं उस व्यक्ति को छोड़ूगा नहीं। पूरा कच्चा चिट्ठा छपाऊंगा किसी पत्रिका मे। वे मौन ही रहे।

शिव ऐसा मत करना कभी। उनकी आँखें पता नहीं किस अदृश्य बिन्दु पर लगी रही। उन्होंने एक लम्बी सास ली और बोले 'तुम लोग नौजवान हो। जल्दी तश मे आ जाते हो।

क्यो क्या उसमें मेरी गलती थी ?

'नहीं,' वे धीरे धीरे वसे ही कहीं और ताकते हुए कहते रहे गलती तुम्हारी कुछ नहीं है। मगर तुम्हें जब यह काम करना है तुमने सही या गलत जिस ढग से भी जब यह बीहड़ रास्ता चुन लिया तो यह सब सहना ही पड़गा। मैं अपने अनुभव के आधार पर तुम्हें दो बातें बता रहा हू। उन्हें हमेशा याद रखना। इसमे कहीं अपमान मालूम हो तो पी जाना खाना पानी न मिले तो फिक्र मत करना झिड़की और उपेक्षा मिले तो सह जाना। और हाँ तुम उनके खिलाफ कुछ मत लिखना। बल्कि एक ऐसा लेख लिखो जिसमे उनकी प्रशसा हो। लिखो कि उनके जसा उदार विद्वान साहित्यप्रेमी हमने देखा नहीं।'

मैं बहुत कोशिश के बावजूद मुसकरा पड़ा। मगर वे वैसे ही गभीर थे। वसे ही कहीं खोये हुए तन्मय। 'इस दिशा म कुछ करना चाहते हो तो याद रखो कि अधकार म छिपी हुई सामग्री का प्रकाश म ले आना ही तुम्हारा काम है यही उपलब्धि है यही मूल्य। बदले म कष्ट और तिरस्कार ही मिलेगा और उस हृदय म छिपाये ही चिता तक जाने की प्रतिज्ञा करनी होगी।

मैं कुछ न बोला। सिर्फ उनकी भरी भरी आँखों म देखता खड़ा रह गया। आज राहुल नहीं हैं। वे अपनी अनेक कटु तिक्त स्मृतियों को हृदय म दबाये ही चिता पर सो गए हैं। उनके हृदय के घावों को कोई देख न पाएगा। तिब्बत स हजारों हस्तलेखों के उद्धार की कहानी सब दुहराएगे पर उनके उद्धारक की बहुत कुछ आपबीती मौन हस्तलेख भी दुहरा न पाएग। किन्तु इस पूरी कष्ट

भरी महायात्रा को ठीक से समझने वाले को ही बीहड़ शब्द का सही अर्थ मालूम हो सकेगा, व्यथा और पीड़ा का एक प्रकाशपूर्ण अर्थ।

उनकी मृत्यु के बाद पुन धीमे स्वर मे ही सही, एक फुसफुसाहट सुनाई पड़ रही है—बौद्ध कि कम्युनिस्ट। इतना ही क्यों, राहुल के पूरे मानस और मस्तिष्क को खण्ड खण्ड करके तमाशा देखने वालो को कुछ और भी विशेषण जोड़ने चाहिए—आर्यसमाजी मठाधीश। अनेक और भी विशेषण जो शायद उनकी मृत्यु के बाद जोड़ना अभद्रता मानकर लोग प्रकट न कह सकें। ये सब विशेषण क्या राहुल के व्यक्तित्व को पूरी तरह आयत्त कर सके है या कर सकेंगे ? राहुल इन विशेषणों से परे एक निरुपाधिक साहित्य सत्ता है, जिसके व्यक्तित्व के चिता पूजा को बराबर बराबर बाँटकर भी उत्तरदायित्व से मुक्त नही हुआ जा सकता। राहुल ने किसी भी मत को मत के लिए स्वीकार नही किया। राहुल की आत्मा एक ऐसी चेतन आत्मा थी जो अपने को और मनुष्यता को चरितार्थता प्रदान करने के लिए निरन्तर विकल रही। उन्हें बुद्ध का यह कथन सदा याद रहा कि 'मैंने तुम्हें नदी पार करने के लिए नाव दी थी। पार हो जाने पर उसे सर पर उठाकर ढोने के लिए नही।' राहुल ने इस कथन की वास्तविकता को समझा ही नही, अपने कार्यों मे भली भाँति उतार भी लिया था। उनकी नावें स्पष्ट थी, किन्तु जहा इन नावो ने वाहन नही वाहक बनना चाहा, राहुल ने उन्हें झटक कर एक तरफ फेंक दिया। राहुल भारतीय सारस्वत परम्परा की स्वाभाविक उपलब्धि है, उस परम्परा की जो कूटस्थ रूढ़िवादिता को कभी भी मनुष्यता का उपास्य नही मानती।

प्रकृति का गोताखोर

तेईस अप्रल १९६४। स्ट्रटफॅड की सड़कों पर एक ऐसा दृश्य जो इतिहास म कभी कभी ही दिखाई पडता है। एक सौ पन्द्रह देशों के राजदूत अपनी राज नयिक वेश भूषा मे सुसज्जित एक कतार म चलते हुए शेक्सपीयर की समाधि पर जा रहे थे, उसकी चारसौवी वर्षगांठ पर वासन्ती गुलाब के गुच्छे भेंट करने।

स्वेडेन के राजदूत गुन्नार हेग्लोफ जो राजनयिक प्रतिनिधियो के डीन की हैसियत से इस अमर कवि नाटककार को श्रद्धाजलि अर्पित कर रहे थे, बोले 'शेक्सपीयर स्ट्रटफड के थे ? इग्लण्ड के थे ? नही, वे समूची मानवता के थे इसीलिए आज विश्व के हर राज्य के प्रतिनिधि यहाँ एकत्र होकर एक स्वर से कह रहे हैं 'हमारे शेक्सपीयर ।

हम सम्पूण बर्तानिया साम्राज्य को खो सकते हैं कि तु शेक्सपीयर को नही। यह वाक्य जाने कितनी बार हमारे अध्यापको ने साहित्यकारो ने राजनीतिज्ञो ने अग्रेजो के साहित्य प्रेम की अभ्यर्थना करते समय दुहराया है। लेकिन क्या है ऐसा इस शेक्सपीयर मे कि जिसके आलोक के सामने ब्रिटिश ताज के सर्वोत्तम हीरे धूमिल लगने लगते हैं जिसकी गरिमा के सामने ससार के सबसे बड़े साम्राज्य से सयुक्त पलडा भी हलका होकर ऊपर उठ जाता है ? इसकी शक्ल देखकर मुझे हमेशा ही कफ़न कहानी के गाडीवान जगपती की याद आ जाती है जो अपने भाई के घर को आबाद करने के लिए दिन रात बोरे लाद लादकर ढोया करता था और उनकी रगड से उसकी चाँद एकदम निर्लोम साफ निकल आई थी। वेश भूषा ऐसी कि लाख श्रद्धा के बावजूद उसी तरह हँसी फूट पडती है जस सोमन डफाली को देखकर बचपन म उभरा करती थी। इसी सपाट भाव हीन चेहरे को देखकर शायद बेन जानसन ने कहा था कि उसे चित्रा मे नही उसकी कृतियो मे ही ढूढना चाहिए।

मैं बार बार सोचता हू कि न तो शारीरिक गठन म, न ज म या मत्यु मे और न तो जीवन मे ही इसके कोई ऐसी बात थी जो अनोखी कही जाए। फिर क्या था इसमे एमा जिसने एक यक्ति को इतिहास बना दिया एक छोटी सी इकाई को समष्टि की पीठिका पर आसीन करा दिया ?

इस आश्चय और परेशानी स लाचार होकर हमे वहा जाना पडता है जहाँ शेक्सपीयर का यक्ति नहीं है, आत्मा है सूक्ष्म साहित्य मे प्रतिफलित आत्मा। सारे कौतूहलो और प्रश्नो से आकुल अ तर जम ही शेक्सपीयर जगत क द्वार मे प्रवेश करता है एक अजीब तरह की ग ध स नाक के पुटपुटे भर उठते हैं—आह कसी यह ग ध ! तरह-तरह के जगली और शाही उद्यान फलो की मिली जुली गध, समुद्र की और पत्थर की, चादनी और धूप की, कब्रिस्तान की और युद्ध भूमि की नाना प्रकार की मीठी-मधुर, तीखी कसली ग ध—और इन सबके ऊपर एक और अजीब ग ध ! एक खून की ग ध, हाँ खून की ! सुना नहीं आपने, लेडी मक्वेथ चीखती हुई पागलो की तरह दौड भाग रही है—'आह यहा अभी भी वही ग ध है ! इस छोटे से हाथ को अरेबिया का तमाम इत्र भी साफ नहीं कर सकता ! आह आह ! '

शेक्सपीयर-जगत के अ त क्ष मे पहुचते ही आपकी आखो क सामने नाना रगों का एक ऐसा सम वय दिखाई पडेगा कि जैसे आप इ द्रधनुष के देश म आ गए हो। तरह-तरह के रगो की यह चित्रसाजी वस्तुओ के ऊपर जड परत की तरह लपेट नहीं दी गई है बल्कि ये रग इतने जीव त हैं कि आप इनकी प्रत्येक साँस मे एक नयी अनुभूति मे डूब उतरा सकते हैं। यहाँ डरावने अपशकुन से भरी अँधेरी रातो की कालिमा है टूटते तारों के रहस्यपूण अग्निदाह का पीला पन है, नीले समुद्र और भूरे पहाड हैं, वक्षो से ढक हरे मदान हैं, और इन सबके बीच रात में नीले आसमान से छनकर आती चाँदनी म खडी जूलियट है—आह ज्यो ही वह बालकनी मे खडी हुई कि एक मुलायम रेशमी प्रकाश चारो ओर फूट पडा—नक्षत्रो की तरह चमकती उसकी आँखें एक साथ ही धरती और आसमान साध रही हैं—और कुहरा को चीरती हुई इन आँखो की ज्योति—

हवा के अचल को चीरती वे आँखें
जब चमकती हैं—
पछी गाते हैं यह सोचकर कि
अब रात शेष नहीं है। —रोमियो जूलिएट २।१

रग रूप ग ध का यह शेक्सपीयर-जगत् वस्तुत बाहरी कायामात्र है। भीतर की आत्मा कुछ और ही है। उसमे न ग ध है न रूप, न रग उसम एक ऐसा शालीन प्रकाश है जो मनुष्य और प्रकृति के भीतर छिपे सारे रहस्य को खोलकर रख देता है। आत्मा के इस रूप का दशन सम्भवत उसी रचनाकार को हो

पाता है जो इन आकाशचुम्बी को तोड़कर गहराई में फेंकता जाता है। यह संसार ये महल ये अट्टालिकाएँ यह वैभव ये वीथियाँ यह आडम्बर—यह सब क्या है?

सभी तो गलते हैं पतली महीन हवा में
शून्य होते निराधार स्वप्न की तरह
मेघ चुम्बित गगन ऊंची अट्टालिकाएँ
शान्त निर्जन मन्दिर के अतुल विश्व गुम्बद भी
हाँ सभी कुछ जो है यहाँ पनपता है—
और इस निस्सार दृश्य का कुछ भी नहीं बचता
हम उस पदार्थ से बने हैं—
जो स्वप्नों को बुनता है
और यह स्वप्नवत् जीवन आदि और अन्त में
दोनों तरफ
एक गहरी निद्रा से सम्पुटित है। —द टेम्पेस्ट ४।१

शेक्सपीयर एक ऐसा दर्पण है जिसका इस सूक्ष्म प्रकृति के साथ पूर्ण तादात्म्य है। प्रकृति के सभी स्थूल दृश्य इस दर्पण में आते हैं किन्तु इसका महत्त्व इस बात में है कि इन स्थूल दृश्यों में पैठकर वह इनकी आन्तरिक आभा को न तो ढाँपता-तोपता है न उसे विकृत या धूमिल ही होने देता है। सूक्ष्म प्रकृति बड़े से-बड़े मस्तिष्क के लिए भी अगोचर रही है। उसकी आन्तरिक प्रक्रिया को समझने के लिए एक ऐसा माध्यम चाहिए जो हृदय और बुद्धि दोनों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म शक्तियों से इस तरह सम्बलित हो यह इतना सचेत और भाव प्रवण हो कि प्रकृति की अभिव्यक्ति की हल्की से हल्की लहर भी बिना चिह्नित हुए न बचे। ऐसी ही चेतना के सामने प्रकृति अपना सारा रहस्य खोलकर बिखेरती है। प्रकृति वृक्ष-लता पर्वत समुद्रादि के समुच्चय का नाम नहीं है, बल्कि जड़ चेतन सबके भीतर अभिव्यक्त होने वाली यह एक अत्यन्त शक्तिशाली प्रक्रिया है। काला, सफेद तमस्-सत्त्व भूत भविष्य, कला काष्ठा आदि प्रतिवादी छोरों में व्याप्त बहुविध छायाओं में प्रस्फुटित। इस प्रकृति के सारे निगूढ़ तत्त्वों को समझना मामूली बात नहीं है। मनुष्य को ही लें उसमें रूप आकार का जितना वैविध्य है उससे कई गुनी अधिक बहुरंगी छटा उसके स्वभाव और कार्य-व्यापार में निहित है। कटुता, निर्ममता, हिंसा छल जिघांसा क्रूरता चालबाजी प्रवंचना धोखेबाजी बेईमानी, विश्वासघात मिथ्याचरण अनैतिकता बलात्कार आदि से लेकर दया उदारता, क्षमा, शिष्टता ममता स्नेह प्रेम प्रणय नियम सदाचार शील सौन्दर्य मातृत्व आदि अनेक रंगों के भाव और इनके नाना प्रकार के मिश्रण मानव प्रकृति के ही विविध रूप हैं। इन सबको सही और सूक्ष्म दृष्टि

से वही देख सकता है जो ऊपर के स्थूल आवरण को भेदकर तलवर्तिनी शक्ति की प्रक्रिया को ठीक से समझ सके। शेक्सपीयर इस प्रकृति के गूढ रहस्यों का ज्ञाता था, क्योंकि प्रकृति स्वयं उसकी चेतना को अपनी अभिव्यक्ति का सही माध्यम समझकर भक्त कर रही थी। प्रकृति की स्पष्ट भाषा उसने भले न सुनी हो, किन्तु उसके नेत्रों मे जो रंग उभरते थे, उन्हें वह अच्छी तरह पढ लेता था और अपनी शक्ति भर उसने इन प्रश्नों का उत्तर देने की कोशिश की

वह बोलती है
फिर भी कुछ नहीं कहती।
तो हुआ क्या।
आँख तो कुछ कह रही है।
इसलिए दूँगा सभी उत्तर उसी को

—रोमियो जूलिएट २।१

उसकी महत्ता का सबसे बड़ा आधार शायद यह है कि उसने कभी भी कोमल और सुन्दर के सामने परुष और असुन्दर का त्याग नहीं किया। कोमल और सुन्दर खुद हमारी आत्मा में रचकर हमें मोहता है किन्तु वह पूर्ण सत्य तो नहीं होता। सत्य की ग्रन्थि के जो खोये हुए सूत्र हैं उनमें से अधिकांश कल्मष के पंक में ही दबे मिलेंगे। इस लिए शेक्सपीयर जीवन के अँधेरे पक्ष से कतराता नहीं। वह प्रकृति का भक्त है। कृष्णपक्ष का चित्रण करते समय वह कह सकता है

सुनो सुनो ओ प्रकृति प्यारी देवी, सुनो
यदि किया हो तुमने इरादा भी तो त्यागो
इस प्राणी को निष्फल ही रहने दो
भर दो इसके गर्भ में बन्ध्यात्व
सुखा दो विकसित होते शिशु अंगों को
सुखा दो
इस कुत्सित शरीर से कभी न आये
अन्य शिशु
इसे देने को प्रतिष्ठा
और यदि आना ही हो लाजिमी
तो रचो एक ऐसा विकलांग बौना
घिनौना सा
जो हमेशा इसे अपनी जिन्दगी से
तड़पाता रहे।

—किंग लीयर १।४

असत्य और कल्मष के प्रतिशोध के लिए प्रकृति से की गई यह याचना भी शेक्सपीयर के स्वभाव का ही एक रूप है। शेक्सपीयर को 'सुन्दर' से प्रेम है अवश्य, किन्तु उसने 'सत्य' और 'शिव' के कठोर से कठोर रूप को भी कभी तिरस्कृत नहीं किया। समग्रात्मक जीवन के प्रति उसकी यह सन्तुलित दृष्टि उसके साहित्य की कुंजी है। यद्यपि परलोक परी या भूतों के वर्णन में वायवी सत्ता के प्रति समर्पित-सा प्रतीत होता है किन्तु ऐसी बात है नहीं। इन तत्त्वों के प्रति वह आकृष्ट इसलिए है कि ये मनुष्य-जीवन से सम्बद्ध हैं और उसे गहराई से प्रभावित करते-से प्रतीत होते हैं। सच तो यह है कि शेक्सपीयर मानव प्रकृति का कवि है। वह इस प्रकृति की सारी सुन्दरता और कलुषता को अच्छी तरह समझता है। उसकी एक-एक योजना और दुरभिसन्धि की फुसफुसाहटें उसके चित्त में पूर्णत अंकित होती हैं और वह बिना संकोच अपने कालीन समाज के इस यथार्थ जीवन को चित्रित कर देता है। वह जानता है कि समूची सूक्ष्म प्रकृति की सबसे बेहतरीन उपलब्धि मनुष्य ही है और जब उसे समाज में ऐसा व्यक्ति दिखाई पड़ जाता है जो अपनी सारी कमजोरियों के बावजूद महान् और श्रेष्ठ हो, चाहे वह भले ही मनुष्य की क्षुद्रताओं का शिकार होकर असफल हो गया हो या मर चुका हो तो वह उसकी महानता में विश्वास के साथ गद्गद होकर कह उठता है

जीवन उसका शीलवान था
और सृष्टि के तत्त्व समन्वित ऐसे
प्रकृति स्वयं उठ कहती जग से
देखो, यह मनुष्य है।

—जूलियस सीज़र

सच्चे स्वाभाविक महत् मनुष्य के सृजन पर आत्मचरितार्थता का अनुभव करती यही प्रकृति शेक्सपीयर के काव्य का प्राणस्रोत है और शेक्सपीयर इसी प्रकृति के गूढ़ातिगूढ़ भेदों का स्पष्ट द्रष्टा।

८

अँधेरी रात का गुलाब

२७ मइ १९६४

दोपहर बाद । करीब दो बजकर कुछ मिनिट । मई की स्तब्ध धूप, इतनी चमकीली कि पेडा के पत्ते, मकान, तालाब का पानी सभी आईने की तरह उसे अपने मे जज्ब करने म असमथ होकर उगल रहे थे—ऐसे मे साकल का खडखडाना मुझे हमेशा ही परशानी की बात लगती है। दरवाजा खोला तो प थे। उन्होने न असमय आन पर अफसोस जाहिर किया न नमस्कार प्रणाम। मेरे कमरे की कुरसी पर धुसककर बठते हुए बोल 'आपने कुछ सुना? एक क्षण मौन, फिर खुद ही हकलाने से बोले नेहरू जी नही रहे ।

मेरे मन मे एक क्षण के लिए भी अविश्वास नही उगा। जाने क्यो मैं आने वाले सकट या अशुभ को कुछ पहले स ही भाप जाता हूँ और चूकि हर बार इसे टालना अपनी शक्ति के बाहर ही रहा है, इसलिए अपने भीतर एक बबस नियतिवादिता निरन्तर दृढ होती गई है। उस दिन अभी पत्रकार सम्मेलन म नेहरू ने कहा मेरी जिन्दगी इतनी जल्दी खत्म होन नही जा रही है। लोगो ने खुशी मे तालिया बजाई थी। उसी शाम अखबार म यह खबर पढकर मेरे अन्ततम मे छिपी नियतिवादिता बडी शकालु की तरह फुसफुसाई थी—कही यह वाक्य उस नील रहस्यमयी का व्यग्य न बन जाए! काश यह नियति पराजित हो जाती!

प को किसी जरूरी काम से जाना था गए। मैं वसे ही निश्चेष्ट बठा रहा। खिडकी से तालाब परे का बाग बगल की सडक देखता मौन ।

घटनाओ का एक अजीब वत्त होता है। असल म भाग्यवादी वे हैं जो काले वत्त के भीतर एकाएक रोशनी दख लेते हैं—उनक जीवन या इद गिद मे ये वत्त पूरे होते होते अचानक सुखद मोड ले लेत हैं—किन्तु मैं तो इस अधूरे गतिमय वत्त को देखकर इसकी चरम परिणति व अधनम ध्रुव को सोच-सोच

पर ही थक जाता हूँ। चीनी आक्रमण पराजय, महँगाई, प्रजा म असन्तोष और निराशा, कलह, भ्रष्टाचार, पाकिस्तान के साथ निरन्तर बढता हुआ सघर्ष अब्दुल्ला की रिहाई के बाद तेजी से घटनाओ की घुमडन, परिस्थितियो का वश से बाहर उच्छखल क्रिया-कलाप—इतना तीव्र घटना चक्र और मुझे जाने क्यो बार बार लगता था कि आँधी का प्रचण्ड वेग अभी अन्तिम थपेडा मारने को बाकी है—और अचानक यह खबर! दौडते हुए ध्रुवीय बिन्दु ठहरा ही उठे! कालिमा का वक्त पूरा हो गया—नेहरू नही रहे!!

यह भी एक क्या व्यक्ति था! इसे लेकर जितनी कुण्ठा मेरे मन म हुई है, उतनी शायद ही किसी के प्रति हुई हो। जाने क्यो मन के भीतर एक आकाक्षा रही है और वह निरन्तर घनी और मजबूत होती गई है कि काश अब ये ऐसा कर जाते—कई-कई बार इसने कुछ न-कुछ वसा किया जरूर तभी तो प्यास बढती गई पर अक्सर यह वह कर नही सका, जो इस जलती प्यास को बुझा देता। मुझे ठीक खयाल नही, पढा बाद मे कि अपने देश मे एक ऐसा व्यक्ति है जो पतला दुबला सुन्दर तन मन का आकर्षक सा पुरुष है, जो चाहता तो राजकुमारो की तरह रहता पर जिसने अलख फकीरी का बाना धारण कर लिया है, जो मिजाज का बडा गरम है दिल का बडा कोमल। एक क्षण आग, दूसरे क्षण पानी। जो हजारो हजार नवयुवको के दिल दिमाग पर शासन करता है जिसके दर्शन के लिए जनता की भीड उमडती है जिसने १६२६ म रावी तट पर पूर्ण स्वराज्य का नारा बुलन्द किया है—मैंने यह सब बाद म पढा क्योकि तब तो मैं सिर्फ एक साल का शिशु था।

स्वतन्त्रता! इस शब्द का जादू क्या होता है यह मुझे १६४२ के पहले नही मालूम था। १६४२ के बाद से निरन्तर इसके बारे म सोचता विचारता रहा हूँ। इसके भीतर कितनी परत हैं, यह भी धीरे धीरे करके खुलती गई हैं। इसकी आखिरी परत को देखकर ही दास्तोएवस्की ने कहा था—'शायद मनुष्य और मनुष्य-जाति के लिए इतनी निरवधाय और कुछ नही है जितनी स्वतन्त्रता।' अपनी चरम सीमा पर यह अकेलेपन का अभिशाप भी लगा, इसी-लिए सार्त्र ने जब कहा कि मनुष्य स्वतन्त्र होने के लिए अभिशप्त है तो असगत नहीं था। इस स्वतन्त्रता के इतने पहलू हैं इतने विभेद हैं इतने रूप हैं, फिर भी सबके भीतर यह एक सी व्याप्त ऐसी अखण्ड सत्ता है, कि इसे समझने के लिए इसे जीना जरूरी लगता है। १६४२ के बाद से इसकी अनेक परतो को मैंने समझा, किसी न किसी रूप में शक्ति भर भोगा और जिया किन्तु इस जीने म जादू न था विवशता और कर्त्तव्य की भावना ही थी। जादू तो सिर एक बार ही चढा और वह १६४२ म ही जब मैं जमानियाँ हाईस्कूल म सातवीं कक्षा का विद्यार्थी था। नारा लगाने की शक्ति तब भी मिली थी,

और जोश म मुंह-बुंह मो वठने की विवशता उस समय भी थी। तार-टेलीफोन कट रहे थे, रेल की पटरियां उखड रही थीं, पुल टूट रहे थे स्टेशना, डाकखानों, कचहरियां सरकारी इमारतो पर तिरंगा फहराने की उमग का ग्रार-पार न था— और तब धीरे धीरे वह दिन भी आया जब टूट पुलों को जोडती पटरियां को ठीक करती गोरे सनिकों की 'बोगी' आई और जमानिया मे गोली चली, बलिया का स्वदेशी राज्य छिन भिन्न हुआ। जनता पर बन्दूक के कुन्दे, और सगीनों की वर्षा हुई। आदमी पेडा से औंधे मुह लटकाए गए। नाक मे मिर्च का धुआं दिया गया। धनी मानी लूट गए। औरता पर बलात्कार हुए—'४२ का विद्यार्थी आन्दोलन नेताओं के हाथ से बाहर निकल चुका था, हिंसात्मक हो गया था—मन ग्लानि से भरा था। आन्दोलन का उत्तरदायित्व स्वीकार करने के लिए कोई बडा नेता तैयार नहीं हुआ, यानी यह सारा तरुण जोश निरथक था? यह सारी उमग बचपनलव थी? सितम्बर की बारिश मे रात आसमान के नीचे, असफल क्रान्ति के विद्यार्थी सैनिक जनता पर होने वाले अत्याचारा के लिए अपने को दोषी मानकर ग्लानि और लज्जा से सिर झुकाए बठे रहते लोगों से मुह छिपाए इधर-उधर घूमते रहते। घर के बडे-बूढे हमारी नालायकी, मूखता और बचपने को कोस-कोसकर अपने दुख के आंसू पोछ रहे थे— रेलवे लाइन पर गांव के लोगा को बगार-पहरा देना पडता। खाना खाकर रेलवे की ओर जाने वाली टोली जी भरकर हम गालियां देती। पढाई बन्द थी, कृतविद्य लज्जा से सिर झुका था। हमने तरुणाई के जोश और उमग मे जिसे बहुत महत् और पवित्र काय समझ लिया था उसे अपने ही लोग अनुचित कहकर वितृष्ण हो गए थे—तभी एक ऐसा दिन आया कि हमने सुना कि जेल से निकलते ही नेहरू ने भाषण दिया कि सन '४२ की क्रांति का उत्तरदायित्व मुझ पर है। तो वह क्रांति असफल न थी? शहीदों का खून पानी न था कुर्बानियां बेवकूफी न थीं!! सच उस दिन हमारे पैर खुशी के मारे धरती पर नहीं पडते थे। तन मन पर पडा स्याह परदा जस एकबारगी झटके से हट गया था और उस बदली दुनिया मे चारों तरफ मेरे सामने बस एक ही तसवीर थी—जवाहरलाल नेहरू!

नेहरू ने इस स्वतन्त्रता' शब्द के प्रति कितना आकर्षण कितनी अभीप्सा जगाई, यह सब कुछ सबके सामने है। स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है का नारा प्रत्येक समाज म मानवीय पुरुषाथ के प्रतीक के रूप म पूजित और अभीप्सित है किन्तु क्या यह सच नहीं है कि मानवता का इतिहास व्यक्ति के इस अधिकार के अपहरण की भयानक कुरूमाओं से भरा हुआ है। मानव मन की इस अमूल्य कली को तोडने के पाशविक कृत्य केवल आदिम समाज और मध्यकालीन युग तक ही तो सीमित नहीं हैं। मात्स्य-न्याय निरन्तर सभ्य होते

सम्प्रति समाज की भी दिनचर्या नहीं रहा क्या ? एशिया और अफ्रीका के सद्य उदित राष्ट्रों में एक एक करके सैनिक तानाशाही का वीभत्स रूप उभरता गया—सर्वहारा वर्ग की मंगलकामना के मनोरथ ध्वज भी स्वतन्त्रता कामी व्यक्तियों के रक्त से लाल होते रहे। स्टालिन के शासन में व्यक्ति स्वातन्त्र्य की जो निर्मम हत्या हुई उसकी गाथाएँ अब पूंजीवादी प्रतिक्रियावादियों की कल्पना की उपज ही नहीं रहीं। ख्रुश्चेव के बयान और साक्षियों ने 'नेकेड गाड' के कुकृत्यों पर क्या प्रामाणिकता की मुहर नहीं लगा दी ? हिमालय के पार चीन में व्यक्ति के अधिकारों का जो इतिहास लिखा जा रहा है उसे तो भविष्य का कालपुरुष ही उद्घाटित कर सकेगा ! चारों तरफ तो हम व्यक्ति की स्वतन्त्रता को लीलने वाली लपटें ही दिखाई पड़ती हैं।

ऐसी लपटों से घिरे एक भूमिखण्ड का नाम भारत है जहाँ नेहरू का शासन था। और संसार का कौन शासक था जिसे नेहरू से अधिक जन-श्रद्धा और भक्ति का अवदान मिला हो। भारत की लाख लाख जनता नेहरू के सामने श्रद्धा से झुक जाती थी। यह अन्ध भक्ति और समर्पण किस राजनेता को पागल नहीं बना सकता ? यह उन्मादक शराब किसे प्रमत्त नहीं कर सकती ? जनता की इसी अन्धश्रद्धा को लक्ष्य करके नेहरू ने लिखा था— 'यह धारणा कि मैं इन्हें प्रभावित करके किसी भी तरफ मोड़ सकता हूँ मेरे मन में इनके दिलो दिमाग पर अपने अधिकार की भावना को जगाती थी और मेरी शक्ति की अभीप्सा को सन्तुष्ट करती थी। और वे अपनी श्रद्धा और भक्ति के विश्वास से मेरे हृदय पर एक सूक्ष्म ढंग का ऐसा अत्याचार करते थे कि मेरे अन्ततम को गहराई से छूकर वैसा ही संवेगात्मक प्रतिदान देने के लिए मुझे विवश कर देते थे। केवल एक वीतरागी महात्मा या शायद कोई अमानवीय दैत्य ही इस सब कुछ से अपने को अप्रभावित रख सकता है।'

नेहरू ने अपने शासन काल में अनेक बार ऐसे निर्णय लिए जो जनता को रुचे नहीं। अनेक बार उनकी कटु से कटु निन्दा हुई। लेकिन वे थे कि जैसे इस सबसे अछूते अलग थलग बने रहे। बड़ा नाटकीय है यह व्यक्ति। माला तो जपता है जनतन्त्र की समाजवाद की मानव प्रतिष्ठा और व्यक्ति स्वातन्त्र्य की पर करता है हमेशा मनमानी। बुद्धिजीवी निरन्तर इस आशंका से पीड़ित रहे कि जाने कब नेहरू निरंकुश शासक बन बैठें। ज्यों-ज्यों राष्ट्र निर्माण में बाहरी सम्बन्धों और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में निराशा उपजी पनपी आलोचना का स्वर तीव्र हुआ कि हृदय के भीतर किसी अज्ञेय सन्धि में इस भावना ने सिर उठाया बस अब वह यह सब नहीं सुनेगा और एक सुबह उठकर हम अखबारों में पढ़ेंगे कि नेहरू ने अपने को सर्वोच्च शासक घोषित करके सारे अधिकार अपने हाथों में ले लिए। इसी समय नेहरू पर किसी ने 'चाणक्य' के छद्मनाम से

एक लेख लिखा और अपने मन की सारी शंकाओं की घनीभूत काली छाया से पूरे वातावरण को आच्छादित करते हुए निर्णय दिया—'एक हल्का-सा झटका, और बस जवाहरलाल मन्थर गति से चलते जनतन्त्र के टण्ट घण्ट को एक तरफ करके तानाशाह में बदल सकते हैं। वे तब भी शायद प्रजातन्त्र और समाजवाद की शब्दावली और नारे दुहराते रहेंगे मगर हम जानते हैं कि किस तरह तानाशाहों ने इस तरह की भाषा से अपने को मजबूत किया है और कैसे समय आने पर इसे बकवास कहकर एक तरफ झटक दिया है। सामान्य परिस्थितियों में वे शायद एक सफल और योग्य शासक ही बने रहते, किन्तु इस क्रान्तिकारी युग में सीजरशाही हमेशा ताक में बैठी रहती है और क्या यह सम्भव नहीं है कि नेहरू सीजर की भूमिका में उतरने की कल्पना कर रहे हों?'

इस निबन्ध ने चारों तरफ खलबली मचा दी। अनेक लोगों के मन की गुप्त आशंका और भावना को जैसे किसी ने शब्द दे दिए हों। छद्मनाम से ही सही, किसी ने सच्ची बात कहने का साहस तो किया? किन्तु यह कठोर आरोपपूर्ण शब्दावली में व्यक्त निर्मम आलोचना लिखी किसने?—खुद जवाहरलाल ने! यह निबन्ध अपने बारे में उन्होंने खुद लिखा और इतिहास साक्षी है कि जवाहरलाल सीजर नहीं बने। इतिहास साक्षी है कि संसद भवन में तीखे से तीखे प्रहारों को नेहरू ने सुना और सहा। इतिहास साक्षी है कि घनघोर से घनघोर राष्ट्रीय संकट के समय भी उन्होंने किसी व्यक्ति, राजनीतिक दल या पार्टी के विरुद्ध ऐसा कोई कदम नहीं उठाया जो मनुष्य के सार्वभौम अधिकार यानी उसकी स्वतन्त्रता में बाधा पहुँचाए।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और मनुष्य के सार्वभौम अधिकारों के प्रति जवाहरलाल हमेशा प्रणतशिर रहे यह उनका हमारे राष्ट्र को सबसे बड़ा अवदान है लाल गुलाब का मन्दावहारी फूल भारत राष्ट्र के नाम विरासत में।

यह तीन मूर्ति मार्ग है! प्रधानमन्त्री भवन। नीचे के दीर्घ कक्ष में पलंग पर शुभ्र खादी की चादर में ढँका जवाहरलाल का शव! सिर्फ मुख भाग खुला है। मृत्यु के बाद किसी भी व्यक्ति के चेहरे पर इतनी शान्ति और इतनी शीतलता! कल रात से ही लाखों-लाख लोग आँखों में आँसू भरे इस शव की निरन्तर परिक्रमा कर रहे हैं—आकाशवाणी से कॉमेण्टेटर बोल रहा था

परिक्रमा? क्या यह सम्भव है कि हम इस शब्द के समूचे अर्थ को खोलकर रख सकें? परिक्रमा उस शव की, उस जीवन की उस व्यक्ति की परिक्रमा उसके मानस में निरन्तर आकुल उमड़ते विचारों की परिक्रमा उस परिक्रमार्थी की जिसने राष्ट्र के एक छोर से दूसरे छोर की अनगिनत परिक्रमा की जिसने अपने लघु चरणों से पूरे भू-मण्डल को अपनी मानवीय परिक्रमाओं में बाँध लिया—परिक्रमा किसकी?

परिक्रमा क्या ? इसलिए कि वह जानता था कि स्वतन्त्रता एक अविभाज्य इकाई है। यदि मनुष्य की स्वतन्त्रता ससार के किसी भी कोने म आहत और विदीर्ण हुई है, तो उसके घाव की पीडा सवत्र व्याप्त स्वतन्त्रता के चेतन शरीर को बेचन कर देगी। नेहरू के सामने मनुष्य से बडा कोई सत्य नही था, और स्वतन्त्रता से बडा कोई मन्त्र नही था।

और मुझे लग रहा है कि यह परिक्रमा उस शव की नही हो रही है मनुष्य और उसकी स्वतन्त्रता की हो रही है।

मनुष्य ? जवाहर की प्रतीति या विजन का मनुष्य भी कितना भिन्न था। नीत्से का डायानीसियस मनुष्य भारतीय वातावरण म ! एक एसा मनुष्य जो धम और रूढियो से अलग हो जो विनान की रोशनी म सत्य की परख करने के लिए कृतसकल्प हो किन्तु जो विज्ञान क काले पक्ष से कभी समझौता न करे, जो खुद अथपूण जिन्दगी जिए और दूसरे को वसी ही जिन्दगी जीने दे । उनके मन मे एक ऐसे आधुनिक मनुष्य की कल्पना थी जो मानवता की लम्बी विकास यात्रा की सहज उपलब्धि होगा। उन्होने आधुनिक मनुष्य के बारे म लिखा—'आधुनिक मस्तिष्क असल म एक बेहतर तरह का आधुनिक मस्तिष्क वह है जो व्यावहारिक और वास्तविक मूल्या स सयुक्त हो नतिक और सामाजिक हो, दूसरो के विचारा की कद्र करने वाला और मानवतावादी हो। वह सवदा सामाजिक अभ्युदय के वास्तविक आदर्शों से प्रेरित हो। उन आदर्शों से जो युग की आत्मा के प्रतिनिधि होते हैं युगधम होते हैं। (डिस्कवरी आव इण्डिया पृ० ५७२)

आगे चलकर इन आदर्शों को उन्होने दो प्रमुख वर्गों म सीमित किया है—मानववाद और वज्ञानिक चेतना। वे यह स्वीकार करते हैं कि दोनो आदर्शों म परस्पर सघष की स्थिति भी आती है किन्तु आधुनिक मनुष्य की तो यह विशेषता ही होनी चाहिए कि इन दोनों के बीच एक प्रसन्न समन्वय धर्मिता खोज सके और एक वज्ञानिक मानवतावाद को व्यवहार भूमि म उतार सके।

वे विनान की सीमाओ से भी परिचित थे इसीलिए उन्हे एक तरफ जेम्स जीन्स याद आते हैं जो विज्ञान का मुख्य तत्त्व यह मानते हैं कि मनुष्य अब प्रकृति को अपने से भिन्न पदाथ नही मानता। तभी उन्हे उपनिषदा के ऋषि भी याद आते हैं जो पूछते हैं कि 'ज्ञाता ज्ञेय कसे हो सकता है अथवा दूसरो को देखने वाली आखें खुद को कसे देख सकती हैं। और तब नेहरू को लगता है कि आज का वज्ञानिक दार्शनिक की भूमिका म भी उतर रहा है और वे बडी प्रसन्नता के साथ आइन्स्टीन की बात दोहराते हैं कि आज के हमार इस भौतिक युग म केवल गम्भीर वज्ञानिक कायकर्ता ही पूण धार्मिक मनुष्य है।

समन्वय की यह माँग तीव्रतर होती जाती है और नेहरू को लगता है कि

विज्ञान और मानव म, आदर्श और वास्तविकता मे प्रकृति और मनुष्य मे समाज और व्यक्ति म समन्वय की सही प्रतीति और प्रक्रिया ही आधुनिक मनुष्य की अभीप्सा का रूप है, फिर भी 'डिस्कवरी आव इण्डिया' का 'पुरानी समस्या आधुनिक दृष्टि' का अध्याय समाप्त करत हुए वे लिखते हैं—'अपने सम्पूर्ण तर्क और बुद्धि की शक्ति के साथ, अपने सम्पूर्ण उपलब्ध ज्ञान और अनुभव के बावजूद हम जीवन के गुप्त भेदो के विषय म बहुत कम जानते हैं और केवल रहस्यात्मक प्रक्रिया के द्वारा ही इसका थोडा बहुत अनुमान कर सकते हैं। फिर भी हम हमेशा इसके सौन्दय की प्रशसा तो कर ही सकते हैं और इसकी ईश्वर सदृश रचना शक्ति को कला के माध्यम से व्यक्त कर सकते हैं। यद्यपि हम गलतिया करने वाले दुबल, मत्युशील प्राणी हैं और यह जीवन एक अनिश्चित लघुकाल मे सीमित है फिर भी हमम कही न-कही अमर देवताओ का तत्त्व भी विद्यमान है। इसलिए हमे कभी भी—जसा अरस्तू ने कहा है उनका अनुशासन नही मानना है जो हम मत्युशील मनुष्य कहकर वसे ही विचारो म जीने को कहते हैं। बल्कि हम अमरता के लिए प्रयत्न करना है और वह कोई भी प्रयास छोडना नही है जो हमारे भीतर के सर्वोत्तम को उस ओर ले जाता है।' यह नेहरू का रोमण्टिक रूप है।

मनुष्य के विषय म ऐसी उदात्त कल्पना थी नेहरू के मन म। किन्तु विश्व मनुष्यता का जो रूप उनके सामन था उसमे गरीबी, जहालत, अशिक्षा मे घुटते मरते असख्य भारतीय थ, डालर का देश अमेरिका था साम्यवादी सोवियत रूस महान शक्तिसम्पन्न राज्य सत्ताएँ साथ ही गुलामी की बडिया मे जकडा एशिया और अफ्रीका वर्णविद्वेष धर्मोन्माद धनी गरीब का अपटनीय अन्तर आधुनिक शिक्षा के बल पर राकट युग म जीनवाले लोग तो साथ ही गोबर युग के कीटतुल्य जीवन वाले असख्य प्राणी—और इस पूरे गोल भूमण्डल को अपने मृत्यु आँचल म समेटने को उतावली युद्धदेवी! इसलिए इसी के बीच और इसी परिप्रेक्ष्य मे अपने को रखकर हमे सोचना चाहिए कि नेहरू ने मनुष्यता के लिए क्या किया?

२६ मई १६६४

हजारो लोग रो रहे हैं। बूढे, युवक बच्चे। बहुएँ बहनें। आधुनिक भारत का निर्माता चला गया! भारत की हानि अतुलनीय है विश्व की भी कम नहीं। वे शान्ति के पैगम्बर थे। वे स्वतन्त्रता के मन्त्रदाता थे। ज्योति शलाका बुझ गई। एशिया का नक्षत्र अस्त हो गया। आज विश्व को उनकी अत्यन्त जरूरत थी। रूस के विश्वस्त मित्र थे। स्वतन्त्र विश्व के स्तम्भ थे। एक रोशनी जिसने विश्व को अपनी अदभुत राजनीतिज्ञता और आचरण से

प्रकाशित किया था बुझ गई । वे भारत पाकिस्तानी उप महाद्वीप के सर्वश्रेष्ठ पुत्र थे । वह स्वतन्त्रता के सेनानी थे ।

उनके अभाव मे हिमालय भहरा गया है । भूकम्प हुआ है । पर्वतारोही, वैज्ञानिक विद्यार्थी, व्यवसायी, खिलाडी, पशु पालक माली, किसान—सभी विगलित हैं । ससार भर के समाचार पत्र काले बाडरो से भरे हैं । झण्डे झुके हैं । सयुक्त राष्ट्र मे भी नियम के प्रतिकूल जहा केवल देश प्रमुख की मत्यु पर ही झण्डे झुकते हैं शोक का वातावरण है । विदेशो से अनेक प्रतिनिधि आए, और आज लौट रहे हैं । उनके दाह सस्कार म शामिल होने के लिए होड लगी है । अनेक देशो मे शोक सप्ताह मनाये जा रहे हैं ।

हम रो रहे हैं, पर भीतर-ही भीतर प्रस न भी हैं कि हमारे बीच एक ऐसा भी व्यक्ति था जिसकी मत्यु दुनिया को एक क्षण के लिए स्तब्ध कर गई । एक क्षण को ही सही बडे-से बडे माथे उसकी याद मे झुक गए ।

कल परसो दस दिन बाद महीने वर्ष बीतेंगे । इन तीन दिनो का यह दमघाट चारो तरफ अदृश्य रूप म फैला सबके तन मन को छता वातावरण बदल जाएगा—यद्यपि अब भी हमारे सामने भाखडा-नगल होगा नागार्जुन बाँध होगा दामोदर वली होगी अणु भट्टी अप्सरा होगी, विज्ञान भवन, कृषि भवन होगे, प्राविधिक शिक्षा की अनेक सस्थाए होगी, यानी नेहरू की टेक्नोलॉजी विज्ञान प्रेम, प्रजातान्त्रिक सस्थाएँ अकादमियाँ अस्पताल स्कूल सडकें, बाँध योजनाए, उनके कुछ-न कुछ बदलते बनते रूप हमारे सामने होगे । अनेक किताबें होगी जो उन्होने लिखी । अनेक भाषणो के सग्रह जिनम मानव जाति से सम्बद्ध सभी प्रमुख समस्याओ पर एक विजनरी की छाप अकित होगी ।

पर क्या इसी कारण राष्ट्र की रोती-बिलखती जनता यह पूछना भूल जाएगी कि अभी मजिल कितनी दूर है प्यारे नेता ? अभी रातनी मान म कितनी दर है ?

जयप्रकाश ने कहा—देश का नेता सकट म जनता को छोडकर चला गया !

राजाजी न लम्बी उसाँस के साथ कहा—भगवान् इस देश की रक्षा करें !

कल सकट के बादल घन हो सकते हैं नेहरू की मत्यु का यह गमगीन वातावरण तब हमारे बीच न होगा तब क्या अनेक लोग जयप्रकाश और राजाजी के दाग को ही नहीं दोहराएँगे ?

जरूर दोहराएँगे । नेहरू के जीते जी ही क्या आशका भरे य प्रश्न नहीं उठत थे ! और फिर जनता महामानव को तरग ही तो है । वह तो हर व्यक्ति अपनी उपयोगिता के तराजू पर ही तौलती है । जो उपयुक्त है उसे वह धारा म सजो लेती है जो व्यर्थ है उसे किनारा पर फेंक देती है ।

फिर क्या निर्ममता के साथ इतना पूछा जा सकता है कि जाना नेहरू म

वह सब क्यों माँगती है जो व दे नहीं सके या दे नहीं सकते ?

वह इसलिए कि जनता के मन पर गलत या सही ढग से यह छाप डाली गई कि नेहरू सब कुछ दे सकते हैं। जनता भोली होती है, पर हमारे बुद्धि जीवी भी जो नेहरू से सब कुछ न पा सके, रूठ जाते हैं तो बडा अचम्भा होता है।

नेहरू प्रकृति की उपज हैं परिस्थितियो की देन। उसके तन और मन मे भी वे तमाम दुबलताए थी जो एक आदमी मे होती हैं या आदमी को आदमी बनाए रखने के लिए होनी चाहिए। जिन परिस्थितियो ने हमे नेहरू दिया, उन्ही ने उनकी दुबलताएँ भी।

मैं पूव और पश्चिम का एक अदभुत मिश्रण हूँ। सब जगह बेजगह घर कही भी नही। शायद मेरे विचार और दष्टिकोण पूरब की अपेक्षा पश्चिम के ज्यादा नजदीक है। पर भारत अपने सभी बच्चो की तरह मुझे भी चिपका लेता है और मेरी पष्ठभूमि म, अवचेतन म कही सकडा, या जो भी सख्या हो ब्राह्मण-पीढिया के जाति सस्कार छिपे हुए हैं। न तो मैं उस प्राचीन उत्तराधिकार स मुक्त हो पाता हूँ और न ही अपनी आधुनिक अर्जित उप लब्धि से। ये दोनो ही मेरे अग हैं। और यद्यपि य मुझे पूरब और पश्चिम दोना जगहा पर सहायता देत हैं तथापि य मेरे भीतर एक आध्यात्मिक अकेले पन की भावना भी जगाते है न केवल सामाजिक कार्यों मे बल्कि व्यक्तिगत जीवन मे भी। मैं पश्चिमी जगत म एक अजनबी और बाहरी हू और अपने खुद क देश मे कभी-कभी मैं अपने को एक निष्कासित की तरह पाता हूँ।'

नेहरू का यह अजनबीपन उन्ह साहित्य का एक बेहतरीन आधुनिक नायक तो बना सकता था एक सफल शासक नही। पर व्यक्ति की भाग्य विडम्बनाओ की तरह राष्ट्रो की भी विडम्बनाए होती हैं कि नेहरू का एक ऐसा दढ सह योगी नही मिला जो उनके विजन को काय रूप म उतार सके। वे इतिहास के स्वप्नद्रष्टा जबरदस्त थे इतिहास को मोड देने वाले कायशील व्यक्तित्व उतने बडे नही।

व बहिमुख जगत मे निरन्तर छाए रहे पर यह अवसर उनके अन्तमन के विक्षेप का ही परिणाम था। वे बौद्धिक अवश्य थे, पर सवेगात्मक भी कम न थ। इसी कारण राजनीतिक सघर्षों म वे कठोर निणय नही ल पाए। एक स्थान पर अपनी मन स्थिति का निणय करत हुए उन्होने लिखा है— मेरा असली सघष मेरी आत्मा के भीतर चलता रहता है एक अतप्त बुभुक्षा के आन्तरिक जगत और बाह्य परिस्थितियो का सघष। सघष भावनाओ और विचारो का आकाक्षाओं और मान्यताओ का। मैं इन विविध अधिकार जमाने की इच्छुक शक्तियो का युद्ध-स्थल बन जाता हू। मैं इनसे बचन के लिए,

समन्वय और सवादिता पाने के प्रयत्न म वाह्य सक्रियता म कूद पडता हूँ।"

सच तो यह है कि नेहरू का व्यक्तित्व परस्पर विरोधी तत्त्वा का, उनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म छायाओ से रजित एक ऐसा मठकोण पटल है कि उसे ठीक स समझ पाना बहुत कठिन है। वे हमारे वतमान विश्व की सक्रान्ति कालीन परिस्थितियो की बेहतरीन उपलब्धि थे। अगल वर्षों म एशिया और अफ्रीका म बदलते हुए रगमच पर जो कुछ दश्य और क्रियाएँ घटित होगी, उनके वे सूत्रधार थे, किन्तु अफसोस कि नाटक समाप्त होने के पहल ही निर्देशक महा निद्रा मे सो गया।

मुझे बार बार यह लगता रहा है कि स्वतन्त्रता की लडाई तो दिन के उजाले मे हुई, किन्तु देश के निर्माण के सकल्प के साथ ही शाम घिर आई। नेहरू थ कि इस कारवाँ को अधेरी रात म भी धीरे धीरे उठत गिरत राह टटोलत ही सही, एक निश्चित मजिल की ओर ले जा रहे थे—किन्तु अब तो यह भविष्य ही बताएगा कि देश का यह कारवा उस गुलाब की सुगध के सहारे मजिल की ओर बढकर सुबह की रोशनी पा लता है या अधेरी रात म कहीं भटक जाता है।

उनकी आकाक्षा तो यही थी कि उन्हे अभी अनेक प्रतिज्ञाए निभानी हैं इसलिए थकी हारी आत्मा अभी नही सोएगी। पिछले एक वष से उनकी मज पर उनके ही हाथो लिखी अमरिकी कवि राबट फ्रास्ट की पक्तियाँ रखी हुई थी

वन कितने सु दर हैं घने अधेरे
किन्तु वचन हैं कई निभाने मेरे
मीलों जाना अभी मुझ है—
फिर आऊँगा नींद पास मैं तेरे।
फिर आऊगा

किन्तु वे नीद के पास भले न आते महानिद्रा उनके पास अवश्य आ गई।

बँधी दृष्टि मुक्त हँसी

युग ऐसे सहज ढग से बीत जाता है ? यह प्रश्न कई दिनो से मन को उन्मथित कर रहा है। एक मामूली रात बीतने पर भी सुबह होती है रोशनी होती है शोर गुल और चह चह होती है। दद्दा के साथ एक युग बीता है यह भी कहते हैं, पर क्या बीता है यह पकड म नही आता। किन्तु क्या जो पकड म नही आता वह सत्य नही होता ? बहुत सी चीजें ऐसी होती हैं जो इस कदर आती और जाती हैं कि हमारी बाह्य धर्मी चेतना उसे समझ नही पाती। राजनीतिक व्यक्तिया के साथ युग परिवतन काफी स्थूल और बाह्य होता है, वह तुरन्त समझ मे आ जाता है। वाक्धर्मी व्यक्ति का जगत अन्तजगत होता है, इसी कारण उसके कम और उपलब्धिया प्राय ही ऊपरी स्तर के जीवन म अदृष्ट बनी रह जाती हैं। दद्दा को मैंने देखा था, बहुत नजदीक से नही। कुल दो चार बार का ही मिलना था। सीता निवास म भाई आनन्दकृष्णजी ने परिचय कराया था एक विशेषणोमय परिचय। यह भी बताया कि खूब लिखत पढत हैं। दद्दा मुसकराए थे, एक सदिच्छा भरी हँसी। साहित्य जरूर पना उनका नजदीक स। अवसर इसलिए कि पाठयक्रम म भी उनका कुछ न कुछ रहा ही छोटी कक्षा से ऊपर तक। खडी बोली का लेखक हूँ। वाक् से जुडा अक्षरो से सयुक्त। कभी कभी ऐसे भी क्षण लेखन के दौरान आए हैं जब लगा कि जो कहना चाहता हू वह शब्दों म बँध नही पा रहा है। वस हमारी भाषा बहुत लचीली और इच्छा के अनुकूल ढलने वाली है। पर ऐसा तो कभी न कभी हुआ ही है कि जब लगता है कि—काश यह कुछ और चेतना और सर्वालिंगित शक्तिवाली होती। उसी क्षण दद्दा की याद आती रही है। खडी बोली के साहित्य की उमर के दद्दा प्रतीक थे जैसे। अभी कल की ही तो बात है जब उन्होने सारे अवरोधो और विरोधा के बीच खडी बोली को सूक्ष्म काव्य-बोधों और अभिव्यक्तिया के माध्यम के रूप म अपनाया था। तब कौन

जाता था कि इतनी जल्दी यह भाषा इन नानाविध रसों न और नाना प्रकार के संकट। ये फिर विशाल जनसमुदाय या इन की सम्पूर्ण साहित्य और साहित्यकार सम-परिपाटी से भार-वहन का माध्यम बनी। इसीलिए मैं इन की मृत्यु को युग परिवर्तन न कहकर नहीं दोनों की परम्परा यात्रा के एक मुकाम की समाप्ति ही कहना चाहूँगा। असल में ये हमारी भाषा की लम्बी यात्रा के पहले जवान थे। हम छोड़कर चले गए। उन्हें छोड़कर उनकी साक्षात् सहायताओं से वंचित होकर हम भाग जाते हैं। आगे जवानी में छूट रही है। इसलिए यहीं हम कल-पुर्जों की जाँच कर लेनी चाहिए। आग के लिए कारी कोयला पानी सँजो लेना चाहिए।

हर साहित्यकार का एक व्यक्तित्व होता है। पहले के लोगों का व्यक्तित्व कितना भास्वर था। मुझे बार-बार यह लगा है कि आधुनिक साहित्यकार किसी व्यक्तित्वहीन जंगल में खो गए हैं। भीड़ का व्यक्तित्व जाने या अनजाने ओढ़ लिया है हमने। मैं यह नहीं कहता कि सबका व्यक्तित्व इन्हीं की ही तरह होना चाहिए। वैसा हो भी नहीं सकता। कुछ नया कुछ भिन्न होगा ही। पर कुछ होना तो जरूर चाहिए। महादेवीजी ने एक शब्द चित्र आँका था उनका। हममें से अनेक ने उनको देखा है इसलिए चित्र की जरूरत नहीं पर चित्र स्मृतियों को तरोताजा तो कर ही जाता है। इसलिए एक बार इस शब्द चित्र को देख लेने में कोई हर्ज नहीं।

'साधारण मझोला कद साधारण छरहरा गेहुँआ या हलका साँवला रंग, साधारण पगडी अँगरखा धोती या उसका आधुनिक संस्करण गान्धी टोपी, कुरता धोती और इस व्यापक भारतीयता से सीमित साम्प्रदायिकता का गठबंधन करती हुई तुलसी की कण्ठी, सब कुछ साधारण—इसी कारण अपने रूप और वेष दोनों में वे इतने अधिक राष्ट्रीय हैं कि भीड़ में मिल जाने पर शीघ्र ही खोज नहीं निकाले जा सकते।

यह एक ऐसा व्यक्ति है जो ऊपर से बिलकुल साधारण सामान्य ही बना रहा क्योंकि वह जानता था कि व्यक्तित्व ऊपर के आवरण में नहीं अन्त की धारणाओं और चरित्र में होता है। गुप्तजी का स्वभाव भी महादेवीजी की दृष्टि में बंधा था—उनके चौड़े ललाट पर क्रोध और दुश्चिन्ताओं की क्रूर लिखावट नहीं है। सीधी भृकुटियों में असहिष्णुता का कुंचन नहीं है ऊँची नाक पर दम्भ का उतार चढ़ाव नहीं है। और होंठों में निष्ठुरता की वक्रता नहीं है। जो विशेषताएँ उन्हें सबसे भिन्न कर देती हैं वे हैं उनकी बँधी दृष्टि और मुक्त हँसी। महादेवीजी ने बँधी दृष्टि और मुक्त हँसी को परिचय और आत्मीयता का सूचक माना है।

मुझे लगता है कि दृष्टि और हँसी व्यक्तित्व का बैरोमीटर है। उसके

अन्तस्तल में चलने वाले प्रत्येक घात प्रतिघात, गति और दबाव, स्वभाव और सभ्यता की अंकन पट्टिकाएँ हैं, ये जिन पर मामूली से मामूली स्पन्दन भी अपनी स्पष्ट छाप अंकित कर जाते हैं। दृष्टा की बधी दृष्टि और मुक्त हँसी उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की कुंजी है। बँधी दृष्टि उद्देश्यों के प्रति एकाग्रता, निष्ठा और अटल आस्था की सूचक है जब कि मुक्त हँसी निःसंगता और विरोधों के बीच अकम्पित जिजीविषा का प्रतीक है।

१८५७ के राष्ट्रीय संग्राम के असफल होने पर, भारतीय चेतना की गंगा मरी नहीं। उसका प्रवाह विदेशी शक्ति से टकराकर एक क्षण थमा रहा और वह फिर दूसरी तरफ मुड़कर बाह्य आवरण के भीतर सूक्ष्म परतों में बह निकला। पाताल गंगा बना। सरस्वती का एक नई भास्वर चेतना का उदय हुआ। तिलक, गोखले गांधी रामकृष्ण विवेकानन्द आदि इसके सन्देशवाहक थे। भारतीय पुनर्जागरण एक ओर विज्ञान की नव-नूतन उपलब्धियों से आश्चर्य चकित था, दूसरी ओर अपनी आत्मा की खोज में तल्लीन था। हमारा प्राचीन वैभव हमें अपनी साम्प्रतिक अधोगति से मुक्ति पाने के लिए प्रेरित कर रहा था तो वैज्ञानिक प्रक्रिया सब कुछ को नये सिरे से देखने-परखने के लिए विवश कर रही थी। एक अद्भुत अन्त मन्थन का युग था वह। राष्ट्रीय संग्राम और मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का युग। मैथिलीशरण इसी युग की देन थे। यह प्रश्न निराधार और व्यर्थ है कि अपने साहित्य के इस युग को हम गुप्त युग कहें या महावीरप्रसाद द्विवेदी युग। वस्तुतः यह भारतीय मनीषा के पुनर्जागरण का युग था जो समसामयिक भारत में सर्वत्र एक-जैसा था। यह एक व्यापक चेतना थी। गुप्तजी की विशेषता यह थी कि उनका चित्त इस सूक्ष्म चेतना को सही रूप में पकड़ने का उचित यन्त्र साबित हुआ और उन्होंने इस अशरीरी भाव बोध को अपने व्यक्ति मन के माध्यम से सहज और सुलभ बनाकर जन-जन तक पहुँचाने का महत् कार्य पूरा किया। उनकी भारत भारती सर्वत्र गूंज उठी। वे अपने युग की सूक्ष्म उलझी हुई मनीषा और भारत के लाखों सामान्य नागरिकों के हृदय के बीच स्वतः निर्मित सेतु बन गए।

गुप्तजी आस्था और आदर्श के साहित्यकार थे। ये चीजें आज विरल हैं। गुप्तजी जैसी आस्था और आदर्शवादिता आज सम्भव भी नहीं। आस्था और आदर्श को स्वीकार लेना हमेशा ही सरल होता है किन्तु उनके अनुकूल अपनी सम्पूर्ण गतिविधि और जीवन प्रणाली को नियमित करना आसान नहीं होता। गुप्तजी का आदर्श तुलसी की ही भांति इसी पृथ्वी पर रामराज्य की स्थापना था पर तुलसी और गुप्तजी के रामराज्य के आदर्श में काफी अन्तर है। तुलसी के युग में रामराज्य की विरोधी शक्तियां थी विदेशी शासन तथा धर्म और दर्शन के नाम पर फलते हुए मिथ्या पन्थ जो सत्य दर्शन के मार्ग में बाधक थे।

गुप्तजी का भारत भिन्न था। विदेशी शासन की क्रूरता तब भी थी, किन्तु सबसे अधिक खतरा विदेशी संस्कृति के आक्रमण का था। एक ओर ज्ञान विज्ञान के आयात के लिए अंग्रेजी भाषा तथा गौण थी, तो उसकी धारा में बहकर ऐसे तत्व भी आ रहे थे जो हमारे देश की संस्कृति के लिए हानिकर थे। गुप्तजी न ज्ञान विज्ञान के विरोधी थे और न संस्कृति को संकट में डालने को तैयार थे। इसी कारण उनका मार्ग काफी विकट और उलझनों से भरा हुआ था। ऐसी परिस्थिति में नवीन और प्राचीन के स्वस्थ समन्वय के आधार पर गुप्तजी ने भारत के लिए एक आदर्श ग्रामजीवन के नये उद्देश्य की स्थापना की।

वे चाहते थे कि हमारे देश में ज्ञान का प्रसार हो। चारों वर्णों के लोग अपने प्राचीन गौरव को समझें और नये भारत की आकांक्षा के अनुरूप स्वस्थ जीवन व्यतीत करें। 'भारत भारती' का स्वर दयानन्द सरस्वती के आर्य सन्देशों से काफी नजदीक प्रतीत होता है। 'भारत भारती' काफी दूर तक हिन्दू राष्ट्रीयता का समर्थन करती सी प्रतीत होती है। 'जयद्रथ वध' सभी प्रकार के वैयक्तिक आकर्षणों की उपेक्षा करके न्याय के लिए युद्ध करने वाले अभिमन्यु के चरित्र को राष्ट्रीय स्तर पर उपस्थित करता है। रावण के असीम बल और साधनों के सामने राम को 'विरथ देखकर विभीषण के चित्त में क्षोभ हुआ था। राम के मुख से तुलसी ने 'विजयरथ' का स्वरूप और महिमा कहलाई है। गुप्तजी का अभिमन्यु अन्याय की ओर से लड़नेवाले सप्त महारथियों के सम्मिलित बल को ललकारता है। अंग्रेजों की विराट सैन्य शक्ति को चुनौती देनेवाले राष्ट्रीय संग्राम के निहत्थे वीर सैनिकों के प्रति इससे बड़ी और श्रद्धांजलि क्या हो सकती थी!

स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए संघर्ष आवश्यक है, पर स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हम किस प्रकार के समाज की रचना करेंगे? यह प्रश्न उस समय नेताओं के मन में भी उठता था। निश्चित ध्येय के बिना विराट आन्दोलनों का जैसे कोई महत्त्व नहीं होता वैसे ही गुप्तजी भी अपने सम्पूर्ण राष्ट्रप्रेम, उद्बोधन और जागरण के कार्य का मुख्य उद्देश्य एक आदर्श समाज की रचना मानते थे। उनका यह आदर्श कितना 'युटोपियन' या वायवी था, यह एक अलग प्रश्न है। मैथिलीशरणजी शान्त, गार्हस्थिक मर्यादाओं से सुरक्षित, सीधे सादे जीवन के हिमायती थे। उनका कानन-जीवन या ग्राम जीवन रोमण्टिक भावनाओं से कितना प्रेरित था कहना कठिन है। औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न कोलाहल और व्यस्तता से ऊबकर रोमण्टिक कवियों ने कल्पनालोक के शान्त सुन्दर आवासों की चर्चा जरूर की है। इस दृष्टि से चाहें तो कह सकते हैं कि गुप्तजी के काव्य में 'शान्तग्राम जीवन' की कामना रोमण्टिक भावना से प्रेरित है पर

सचमुच एसा है नहीं। गुप्तजी की यह इच्छा वस्तुत प्राचीन भारतीय आश्रम सस्कृति की ही देन है। यद्यपि उन्होंने यन्त्रा के विरोध म लिखा है, जसे—

होते यन्त्र न तन्त्र और ये आयुध यान अपार।
होता नहीं अशान्ति कोलाहल शान्ति खेलती आप॥
जसा आता बस बसा हो जाता मैं चुपचाप।
स्वजनों मे ही चिन्ता छिडती सो भी दिन दो चार॥

स्पष्ट ही यहाँ कवि यन्त्र-तन्त्र आयुधयान से परेशान लगता है। लेकिन वह परेशान तो अशान्ति से भी है। मत्यु के बाद ज्यादा लोगो म चर्चा छिडे, इससे भी परेशान है। रोमण्टिक कवि विद्रोही होता है। वह अशान्ति से परेशान नहीं था। सभी जानते हैं कि गुप्तजी के जीवन का अन्तिम हिस्सा मात्र इस तरह व्यतीत हुआ जहाँ यान्त्रिक कोलाहल से वे कुछ परेशान हो सकते थे। शेष भाग तो चिरगाँव म ही बीता, जिसके बारे म वे कहते थे—

अहा ग्राम जीवन भी क्या है।
क्यों न इसे सब का जी चाहे॥

इसी कारण मुझे लगता है कि गुप्तजी का आदर्श ग्राम-जीवन विदेशी रोमण्टिक कवियों से उतना प्रभावित नहीं है जितना प्राचीन आश्रम सस्कृति और गान्धी दर्शन से। जिसका एक रूप अब विनोबा के विचारों और कर्मों म भी प्रतिफलित हो रहा है। मुझे पन्त की भारतमाता ग्रामवासिनी और मथिलीशरण के ग्राम जीवन म इसी कारण अपार अन्तर दिखाई पडता है। यह कानन सस्कृति उन्हें कितनी प्यारी थी, यह पचवटी म उसकी प्रशस्ति से मालूम हो जाता है—

कभी विपिन मे हमे व्यजन का पडता नहीं प्रयोजन है।
निमल जल मधु कन्द मूल फल आयोजनमय भोजन है॥

वन की इस सात्त्विक, तत्त्वज्ञानपूण, आडम्बरहीन सस्कृति को वे योग्य समझते थे कि—

इच्छा होती है स्वजनों को एक बार वन ले आऊँ।
और यहा की अनुपम महिमा उन्हें घुमाकर दिखलाऊँ॥

जाहिर है कि वे न सिर्फ ग्राम जीवन बल्कि उसके भी आरम्भिक रूप कानन जीवन के पक्षपाती थे। जसा मैंने पहले ही कहा—यह बिलकुल ही युटोपियन यानी पूणत काल्पनिक जीवन-दशन है। भारत जैसे जनसख्या बहुल और अभावग्रस्त देश के लिए यह कानन जीवन क्या अर्थ रखता है? औद्योगिक विकास और कानन जीवन मे भारत के लिए कौन उपयुक्त है इसका निणय तो अर्थशास्त्री ही करेंगे मेरे जसे मामूली व्यक्ति को तो यह मिथ्या स्वप्न दर्शन ही लगता है। ग्राम जीवन के प्रति अटूट आस्था रखते हुए

भी मैं यही देख रहा हूँ कि यात्रा की गति नगर से गाँव की ओर नहीं गाँव से नगर की ओर उन्मुख है। गान्धीवाद स्वयं 'क्रॉस' पर लटका हुआ है। भारत का जीवन जिधर बह रहा है वह मार्ग गुप्तजी के 'ग्राम-जीवन' को एक तरफ से काटकर निकल गया है।

इस गुप्तजी का यह आदर्श मान्य हो या न हो, इसके प्रति उनकी अटूट आस्था थी और इसी आस्था के लिए वे जीवन भर संघर्ष करते रहे। यही है उनकी बँधी दृष्टि। यह दृष्टि उनके सम्पूर्ण लेखन में वैयक्तिक जीवन में और अंतर्वैयक्तिक सम्बन्धों में सर्वत्र छायी हुई दिखाई पड़ती है। इसी दृष्टि ने मैथिलीशरण को सर्वश्रेष्ठ उद्बोधन के साहित्यकार के साथ ही साथ राष्ट्रीय संग्राम का सैनिक बनाया। वे भी जेल गए। पारिवारिक सम्पत्ति से हाथ धोना पड़ा। देश की स्वतंत्रता के बाद वे संसद के मनोनीत सदस्य हुए। पिछले कई वर्षों तक लगातार संसद में गम्भीर राष्ट्रीय संकटों महँगाई गरीबी और टैक्सों की अतिशयता आदि समस्याओं पर अपने विचार व्यक्त किए—अवसर दो पंक्तियों में पद्यबद्ध। इन कविताओं का अध्ययन करने वाले जानते हैं कि वे कितने उदास थे। राष्ट्रीय संग्राम का सारा जोश और बलिदान, ग्राम-जीवन की भव्य कल्पनाएँ सभी अकारण हो गई। जैसे सम्पूर्ण देश की जनता उदासीन और निराश है, वैसे ही मैथिलीशरण भी थे। फिर भी वे चुपचाप यह सब कुछ देखते रहे। क्या करते? विदेशी शासन था तो सारा दोष उनके सिर पर मढ़कर आक्रोश व्यक्त किया जा सकता था, अब किससे कहें? हिंदी को उसका सही स्थान दिलाने के लिए वे शुरू से ही संघर्ष करते रहे पर अपने देश की राष्ट्रीय सरकार एक न एक बहाना या तिकड़म करके रोड़ा अटकाती रही और मैथिलीशरण आश्चर्य, दुःख और ग्लानि से ठगे ठगे यह सब देखते रहे।

यह सब मैथिलीशरणजी का एक रूप था। उनका एक रूप और था। कवि का, दद्दा का, मुक्त हँसी का। रीतिकालीन दरबारी संस्कृति की छाया में पोषित सूर आदि की शालीनता और मधुरता से वंचित दरबारी आडम्बर और चमत्कार में चटक मटक रूपवाली ब्रजभाषा हमारे नये युग की आकांक्षाओं का माध्यम नहीं बन सकती। दद्दा ने इस सत्य को पहचान कर तुतलाती खड़ी बोली के चरणों में सब कुछ रख दिया। उन्होंने इस नई भाषा को सशक्त बनाने के लिए खून-पसीना एक कर दिया। कवित्त सवैया का युग देखते-देखते खत्म हुआ। खड़ी बोली में राष्ट्रीय आन्दोलन की हुंकारें प्रतिध्वनित होने लगी। इसका वर्णन ऊपर हो चुका है पर मैथिलीशरण गुप्त का कवि व्यक्तित्व इस जागरण और उद्बोधन के सार्वजनिक जीवन में ही सीमित न था। उनके

हृदय म एक भावना से पूण पीडा और सदाशयता से भरपूर ऐसा निर्झर भी था जो कोलाहल सघष आन्दोलना स अलग एका त मे झरझर बरसता रहा। उसकी आवाज म कभी उर्मिला का रोदन है तो कभी यशोधरा का उपालम्भ।

आंखो मे छवि झूली, मुझे फूल मत मारो न जा अधीर धूल मे दगम्बु आ दुकूल मे, और उधर अपन विरागी पति की याद मे बठी यशोधरा का उनका 'चोरी चोरी जाना' सोचकर बिसूरना अबला जीवन की कहानी, आचल म दूध और आंखो मे पानी का मौन पीडा भरा गीत । द्वापर की कु जा की कृतज्ञता और विष्णुप्रिया के वयक्तिक कारुणिक भाव स्वर ।

एक थे दद्दा ऐसे भी जो जीवन मे गरल पीकर हसते थे। दु खा म जीकर सबको सहानुभूति देत थे। महादेवी के साक्ष्य पर कहा जा सकता है—**यदि अपने आप अत्यन्त साधारण जीवन व्यतीत करने वाले पुत्र के लिए पूवजो के ऋण की छायाकार है तो गुप्तजी इस कष्ट के अङ्गारपथ को पार कर चुके हैं। यदि अपनी नौ नौ सन्तानो को अपने हाथ से मिट्टी को लौटा देना पिता का दु ख है तो गुप्तजी इस दु ख के समुद्र को तर आए हैं। यदि अपनी परीक्षाओ मे अविचलित रहना भक्त का वरदान है तो गुप्तजी पूणकाम हैं। यदि अपने अह को समष्टि मे मिला देना कवि की मुक्ति है तो गुप्तजी मुक्त कवि हैं।'** गुप्तजी का घर चाहे वह चिरगांव का हो या ससद सदस्य का बँगला दिल्ली का सबके लिए हमेशा खुला था। प्रत्येक लेखक उनके स्नेह का पात्र था। हमेशा उनकी मुक्त हँसी की हिलोरें उठा करती थी।

मेरा ध्रुव विश्वास है कि ऐसी मुक्त हसी बिना अश्रुओ से नहाये प्राप्त नही होती। हँसी की यह उन्मुक्तता असगता के कारण ही उपजती है और यह असगता सिफ उस व्यक्ति म आती है जो दु खो से मँजकर कालुष्य स रहित हो जाता है। मथिलीशरण की वैष्णव भावना का रहस्य भी इसी म छिपा है। उनके हृदय की सम्पूण विशालता का सूत्र भी यही असगता है। इसी कारण वे नई पीढी को देखकर कह सकते थे—**जो पीछे आ रहे उन्हीं का मैं आगे का जयजयकार।**

मथिलीशरण गुप्त के प्रति सही श्रद्धाजलि उनकी आस्था, उन्मुक्तता और असगता को स्वीकार करने म ही है। उनका सकल्प हमारा भी सकल्प बने—

जय देव मन्दिर देहली
सम भाव से जिस पर चढी
नप हेम मुद्रा और रक वराटिका
मुनि सत्य सौरभ की कली
कवि कल्पना जिसम बढी
फूले फले साहित्य की वह वाटिका।

ऊँचा पर्वत और अजापुत्र का चिद्विलास

लाउडस्पीकर पर जोर जोर स आवाज उठ रही थी— काशी का चिराग बुझ गया भाइयो आप दो बजे से आरम्भ होनेवाली स्व० डॉ० सपूर्णानन्द की शवयात्रा म अवश्य सम्मिलित हो। मैं इस शवयात्रा म सम्मिलित नही हुआ न कोई एतराज था मन म न कोई आग्रह शवयात्राएं भी अब इस देश म व्यस्त अभिप्रायवाला के लिए तरह-तरह के उद्देश्या का साधन बन गई हैं। मैं यह बात दुखी चित्त से ही कह रहा हूँ।

सर मैं सोच रहा था काशी क चिराग क बारे म। वसे यह चिराग शब्द मुझे बहुत उपयुक्त नही लगा। फिर श द से क्या होता है। आत्मा तो अथ म है। सपूर्णानन्द निस्सदेह अग्नितत्त्व के स्फुल्लिग थे। उनके भीतर प्रकाश था। ज्योति थी। इसलिए चिराग कहनेवाले ने कोई गलती नही की। सपूर्णानन्द एक बेहद बेडौल काया के भारी भरकम यक्ति थे। ऊपर से देखने पर श्यामता ही ज्यादा नजर आती थी ज्योति कम पर ज्योति का आवरण हमेशा ही तमस स निर्मित होता है यह सष्टि का बडा गूढ रहस्य है। सपूर्णानन्द सूयपुत्र थे। उनकी गभीर बीमारी की चर्चा ६ जनवरी की शाम को बडी तेजी से फली। एक सज्जन ने कहा, सुना आपने सपूर्णानन्द का देहान्त हो गया।' मैंने कहा, "अच्छा! मेरी आश्चय भरी प्रश्नमुद्रा उन्ह प्रीतिकर नही लगी बोले आपको विश्वास नही होता? मैंने कहा जब आप कह रहे हैं तो अविश्वास काहे का? कि तु जरा बेढगा लग रहा है आज ६ तारीख है न? सपूर्णान द सोलर यानी सूयपुत्र थे उनका देहात ६ तारीख को कुछ जमता नही। खर बात आई गई हो गई। सपूर्णानन्द के बारे मे फली वह खबर झूठी साबित हुई। वे ६ जनवरी को नही १० को मरे वह भी १० बजकर १० मिनट पर। उनका ज म १८६० ई० के पहले महीने की पहली तारीख को हुआ था। सख्या रहस्यज्ञ इस मृत्यु की सख्या कहते हैं वस भी सपूर्णानन्द का जीवन स्थूल पथ्वी

तत्व या सोमतत्व की अपेक्षा अग्नितत्व से ज्यादा ओतप्रोत था, यह कोई भी उनके लम्बे ७९ वर्ष के जीवन के संघर्षों और उपलब्धियों का लेखा जोखा करके जान सकता है।



एलन लिओ कोई अचूक दैवज्ञ है ऐसी बात नहीं पर मकर राशिवालों के बारे में उसने कुछ ऐसा लिखा है जो संपूर्णानन्द पर बड़ा सटीक बैठता है— 'यह दसवीं राशि है (१० संख्या यहाँ भी है) यानी पूर्ण संख्या, और एक पूर्ण आदमी की जो भी संभावनाएँ होती हैं वे यहाँ आपको मिलेंगी। इस राशि का प्रतीक अद्भुत है यानी एक ऊँचे पहाड़ पर चढ़ता हुआ बकरा। मकर राशि का जन्मा व्यक्ति यदि अपनी संभावनाओं को साकार रूप देने के लिए प्रयत्नशील हो तो एक निष्पक्ष तथ्यवादी, सटीक स्पष्टवक्ता, स्थिर अटल संघर्षशील तथा निरंतर उद्यमी एक ऐसे व्यक्तित्व की तस्वीर उभरती है जो अपने अनवरत, अविच्छिन्न परिश्रम के द्वारा हर अभिलषित प्राप्त कर लेता है। ऐसे लोग मेहनती तत्पर सावधान ईर्ष्यालु बौद्धिक श्रमिक, शांत, अडिग धैर्य और गंभीर अंतर्मुखीन प्रवृत्तियों वाले व्यक्ति होते हैं।'

ग्रीक ज्योतिष मिथक का अजापुत्र निस्सन्देह सामान्य प्राणी है। संपूर्णानन्द भी थे। सामान्य परिवार में उत्पन्न होकर वे उन्नति के शिखर पर चढ़े। किन्तु अजापुत्र वे भारतीय दृष्टि से भी थे। सांख्य दर्शन में प्रकृति को और अथर्वशीर्ष में दुर्गादेवी को अजा कहा गया है। मृत्यु के समय संपूर्णानन्द के अन्तिम शब्द थे— 'देवी, अब तंग न करो, जल्दी बुला लो।'

सूर्य की तारीख और शनि की राशि इन दोनों के अद्भुत योग का क्या परिणाम होता है यह तो ज्योतिषी लोग बताएंगे। मैं सिर्फ इतना ही कह सकता हूं कि ऐसा व्यक्ति जीवन में शासन करने के लिए ही आता है वह अनुशासित कम ही होता है। वह जिस भी क्षेत्र में अपनी शक्तियों का विकिरण करता है, वहां उसका ही प्रभामंडल छाया रहता है। वह किसी महत् उद्देश्य पर उत्सर्ग होने के लिए ही किसी दूसरे के नीचे रहना स्वीकार कर सकता है अन्यथा वह प्रायः अपनी दाहक आत्मा की दीप्ति से चतुर्दिक आलोचना और निन्दा का पात्र बनना भले ही स्वीकार कर ले, मातहती स्वीकार नहीं कर सकता।

स्वतन्त्रता सैनिक और सेनानी वंदी मंत्री मुख्यमंत्री राज्यपाल लेखक, दार्शनिक पत्रकार ज्योतिषविद्याविद अध्यापक खगोलशास्त्री वेदशास्त्रमर्मज्ञ योगाभ्यासी तांत्रिक उपासक समाजसुधारक, हिन्दी संरक्षक आदि आदि भूमिकाएँ उनके बहुविध जीवन की कुछ झलकें दे सकेंगी। संपूर्णानन्द का पूरा जीवन एक बौद्धिक शासक के नियमबद्ध अडिग संघर्षों की कहानी है। मैं उनके जीवन की घटनाएँ पारिवारिक नक्शे या शजरा पलटने नहीं चला हूँ। मैं सिर्फ

उनके सचेत क्रियाकलापों की एक सक्षिप्त गाथा भर दे रहा हूँ। संस्कृत, फारसी अंग्रेजी बंगला जैसी भाषाओं के दार्शनिक राजनीतिक समाजशास्त्रीय और तान्त्रिक वाङ्मय से उनका घनिष्ठ संपर्क रहा। गांधीजी की मृत्यु पर उनका हृदय उन्मथित हो गया था और उसी समय प्राप्तिथि की तरह उनकी कलम से भी छन्दोबद्ध कविता ही निकली पर वे जल्दी ही भाँप गए कि उनके भीतर कल्पना रम्य संवेदनात्मक तत्त्वों की नहीं तर्कपूर्ण विश्लेषणधर्मी दार्शनिक साहित्यकार की संभावनाएं ज्यादा हैं। परिणामत उनका अधिकांश लेखन गद्य में ही आया। करीब तीन दजन से ऊपर महत्त्वपूर्ण पुस्तकें। उनमें भी आधी दर्जन तो ऐसी कि जिन्होंने अपनी मौलिक स्थापनाओं के कारण भारतीय बौद्धिक जगत् को झकझोर कर रख दिया। समाजवाद आर्यों का आदिदेश ब्राह्मण सावधान, चिद्विलास गणेश भाषा की शक्ति तथा भारतीय बुद्धिजीवी।

संपूर्णानन्द मूलतया दार्शनिक थे। तार्किकी की सर्वत्र प्रधानता उनके दर्शन को एक नई रंगत और असह्य विदग्धता प्रदान करती है। 'समाजवाद' पुस्तक उन्होंने अपनी वामपंथी आस्था की अभिव्यक्ति के लिए लिखी किन्तु संपूर्णानन्द मार्क्स को भी अद्वैत पढाने से बाज नहीं आए। शायद उनकी इसी बात की ओर लक्ष्य करके महात्मा जी ने लिखा था—'ऐसा लगता है कि समाजवादी होते हुए भी तुम मार्क्स के दर्शन का समर्थन नहीं करते। संपूर्णानन्दजी ने गांधीजी का आरोप स्वीकार कर लिया। वस्तुत संपूर्णानन्दजी भारतीय दर्शन की परम्परा में आकण्ठ पगे शुद्ध भारतीय थे वे अपने दर्शनशास्त्र पर किसी विदेशी दर्शन की वरीयता स्वीकार कर लें यह संभव नहीं था। हाँ वे अपनी हर चीज को अच्छी मानकर कठमुल्लापन दिखाने वाले परम्पराभीरु भी नहीं थे। इसीलिए जहाँ वे मार्क्स के खिलाफ जाने की हिम्मत कर सकते थे, वहीं ब्राह्मण सावधान का ऐलान भी कर सकते थे। उनकी अपनी निजी मान्यताएं छिटपुट अनेकानेक निबन्धों में काफी स्पष्टतया व्यक्त हुई है पर मेरी दृष्टि से संपूर्णानन्द का चित पूर्णतया अपने वाग्विलास के शिखर पर चिद्विलास में ही दिखाई पड़ता है।

●

चिद्विलास भारतीय दर्शन की अर्वाचीन परंपरा का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। पुस्तक जेल में लिखी गई। यानी यह पुस्तक भी राष्ट्रीयता संग्राम के दिनों में जेल में लिखी हुई ज्योतिष वाङ्मयी परम्परा की एक कड़ी है। तिलक के गीता रहस्य नेहरू की 'भारत की खोज, और राजेन्द्र बाबू के खंडित भारत की परम्परा में चिद्विलास को भी स्थान मिलना चाहिए, वसे यह पुस्तक उद्देश्य में तिलक के गीता रहस्य के नजदीक पड़ती है अन्य पुस्तकों के नहीं।

चिद्विलास उस समय लिखा गया जब एक महासमर के घाव सूखने भी न पाए थे कि दूसरा छिड गया। युद्ध की भीषणता ऐसी बढ गई है कि यदि ऐसे

ही एकाध सग्राम और हुए, तो सभ्यता का नाम मिट जाएगा।' ऐसी ही स्थिति म यूरोप में अस्तित्ववाद ने जन्म लिया, भारत मे गाधीवाद ने। सपूर्णानन्द इस स्थिति का सामना करने के लिए किसी समसामयिक वाद या सम्प्रदाय को महत्त्व न देकर 'वनानिक दशन' की बात करते हैं। वे जानत हैं कि यन्त्रयुग के कारण धीरे धीरे विश्व-सस्कृति और बाद म विश्वशाति की बात उठेगी, पर वे यह भी मानते हैं कि "आज तो अभी बबरयुग की सूचना देने वाले अपशकुनो से दिगत आच्छन्न हैं।" लखक इस स्थिति म परतत्र भारत की भूमिका की जिज्ञासा करता है। 'जो अपना घर नहीं सँभाल सकता वह पृथ्वी भर का क्या प्रबन्ध करेगा" पर उस इतना विश्वास है कि 'अनतिदूर म उसकी इच्छा पूण होगी।' यानी भारत स्वतन्त्र होगा। फिर? भारत अपनी स्वतन्त्रता का क्या उपयोग करेगा? भारत म सिफ दो विचारधाराएँ चल रही हैं एक अवसरवाद, दूसरी अतन्त्रवाद। इसका यह परिणाम है कि वयक्तिक और सामूहिक जीवन म कोई दृढ सूत्र मिलता ही नही। यदि समाज को ठीक से चलाना है तो उसका सघटन किसी सिद्धात के आधार पर होना चाहिए। जो शास्त्र इन मौलिक प्रश्नो को अपना विषय बनाता है। उसे दशन कहते हैं, सपूर्णानन्द का यह दशन शाकर अद्वत पर स्थापित है इस आरोप को वे सहष स्वीकार करते हुए कहते हैं—'यदि मुझको ऐसा प्रतीत होता है कि शाकर अद्वैत हमारी सभी पहेलियो को सुलझाता है और हमको कत्तव्य का पथ दिखलाता है तो उसका समथन करना मेरा कर्त्तव्य हो जाता है।" यदि ऐसा ही है तो फिर अद्वतवाद पर नई पुस्तक लिखने की क्या जरूरत थी? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं—'यदि नये विचारक सनातन सत्यो को नई वेशभूषा म न उपस्थित करें तो ज्ञान का स्रोत सूख जाएगा।'

यह पुस्तक न सिफ ज्ञान के स्रोत को अप्रतिहत रखने के लिए बल्कि इस लिए भी लिखी गई कि अब तक के हमारे शास्त्रकार और दार्शनिक जीवन मरण का भय दिखाकर, वराग्य का ऐसा राग अलापते रहे हैं कि मनुष्य की उनसे विरक्ति होती गई है। दूसरी ओर हमारे मध्ययुगीन और आधुनिक विचारक दशन और विज्ञान को इस तरह अलग अलग रखकर सोचते रहे हैं कि आधुनिक चित्त पर उसका प्रभाव ही नही पडता। इसलिए विज्ञान के सहारे दशन मे हमको वह सेतु मिलना चाहिए जो भौतिक अभौतिक दृश्य अदृश्य और जड चेतन को मिलता है।' इसी के साथ साथ सपूर्णानन्द की यह भी धारणा है कि "दशन को विज्ञान के पीछे नही चलना है परन्तु जहाँ विज्ञान नही पहुँच सका है वहा अपना प्रकाश डालना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चिद्विलास की रचना पूरे समाज को एक दृढ वैचारिक भित्ति देने के उद्देश्य से हुई। इस धारणा के पीछे समाजवाद' वाले

बन्द से विचार कर रहे थे।" [illegible] दिया है—"मनुष्य [illegible] (समता को) [illegible] नहीं और साथ ही [illegible] [illegible] का उन्हें भी [illegible] कि [illegible] रहनेवाला [illegible] देखता रहा। [illegible] इस [illegible] के विरुद्ध थे।

●

उनके दर्शन की दूसरी विशेषता है उनका कर्मवाद पर अधिक से अधिक जोर देना। यह बात [illegible] के कहने का आशय थोड़ा भिन्न है— [illegible] जीवन को क्या कहा है यह आता है कि [illegible] वशिष्ठ विश्वामित्र बुद्धदेव महावीर रामानन्द कबीर नानक आदि ने समाज को शिक्षा [illegible] भी कर्ममय जीवन को अपनाया फिर भी कर्म से भागना ही त्याग समझ लिया गया है। इसलिए लोग गृहस्थ [illegible] है। दुःख से दुःख [illegible] दुःखी जीवन का सुधार करने का उचित उपाय न करना [illegible] माना जाता है जो [illegible] उस पर [illegible] जाता है। साथ भूल गए कि [illegible] पर [illegible] गुण को छोड़कर दुःख मनुष्य शरीर धारण करना है जो [illegible] गुण [illegible] बार बार [illegible] गर्भ में प्रवेश करता है। [illegible] समाज में [illegible] रावण [illegible] भूल गए। आज वही [illegible] है जो समाज में घर घर जगा हुआ [illegible] [illegible] उत्तरदायित्व उन पर [illegible] चाहिए।' इसी विचारधारा के भीतर [illegible] ब्राह्मण [illegible] विन्दु मिल जायेंगे। इस पुस्तक के प्रकाशन पर कठमुल्ला ब्राह्मण समाज में जो तीव्र प्रतिक्रिया हुई थी उसे दुहराने की जरूरत नहीं। [illegible] की शिक्षा [illegible] ब्राह्मण ही दे सकता है इसका मजाक उड़ाते हुए उन्होंने बड़े कटु ढंग से लिखा— '[illegible] का कर्म और साक्षात्कार से इतना विरुद्ध हो गया है कि अपने संबंध में 'तांत्रिकयमात्मा [illegible] लभते य [illegible]' की उक्ति करनेवाला थी हुए भी [illegible] की शिक्षा देने का अधिकारी समझा जाता है।' राज्याश्रय और अध्यापक के संबंध पर इससे कड़ी टिप्पणी क्या हो सकती है। लोग यह बात भूल गए कि जिसने यह सब लिखा वह खुद ब्राह्मण ही था जन्मना नहीं कर्मणा, क्योंकि जन्मना अयोग्य ब्राह्मण ही शुद्ध ब्राह्मणत्व के आवाहन को गलत ढंग से आत्मनिंदा समझने की मूर्खता करता है। यह काशी के कट्टरपंथी ब्राह्मणों का ही प्रसाद था कि तुलसी को काशी से बाहर रहना पड़ा दयानन्द को अशांत ढंग से काशी

ोड़ना पड़ा तथा डा० भगवानदास जसे व्यक्तियो को भी कभी भी उनका ाप्य नहो मिला। सपूर्णानन्द को इस प्रतिक्रिया की परवाह नही थी, क्योकि प्रतिकूलकर्मा ब्राह्मण का विरोध कर सकते थे, तो सस्कृत विद्या के लिए श्वविद्यालय वनवाने का कम भी। उनके लिए दोनो ही जरूरी निष्काम कम । जिन्हें उन्होने नि सकोच पूरा किया।

●

उनके दशन का तीसरा बिंदु है भारतीय सनातन मनीषा म अटूट विश्वास। उनकी धारणा थी कि सभ्यता और सस्कृति का अभ्युदय सबसे पहल आय जाति म हुआ और पूव युगों के तपस्वियो ने ऋषियो और मनुओ का शरीर धारण करके सबसे पहले आय जाति को आत्मज्ञान का माग दिखाया।" इस धारणा पर सकुचित वत्ति का आरोप लगाया जा सकता है। विश्व की अनेक प्राचीन सस्कृतियाँ आय सभ्यता के समानातर ही विकसित हुइ किन्तु इसम सदेह नही कि आय सस्कृति म भोग की अपेक्षा आत्मज्ञान पर ज्यादा जोर दिया गया। फिर यह धारणा किसी तरह अपने को वृहद मानवता से विच्छिन्न करने के उद्देश्य को लकर नहा चलती। भले ही आत्मज्ञान का उदय भारत मे हुआ 'ब्रह्मज्ञानी होने क लिए हिंदू कुल म जन्म लेना सस्कृत को पवित्र भाषा मानना या हिन्दू ढग की उपासना करना आवश्यक नही है। इस देश के महाभाग आचार्यों ने मोक्षाधिकार म जाति कुल या सम्प्रदाय को स्थान नही दिया है। मोक्षपद ही इन क्षुद्र भेदो से ऊपर है, उसका पथ असकीण है।

लेखक के इन विचारो को देखते हुए उस पर सभाव्य सकुचित वत्तिवाला आरोप थोडा हल्का जरूर हो जाता है परन्तु हम यह मानने मे सकोच नही होना चाहिए कि सपूर्णानन्द जी यहाँ पर भारत के प्रति ज्यादा आग्रहशील हो गए हैं। देशभक्ति के उस ज्वार मे यह सहज स्वाभाविक था। 'आर्यों का आदिदेश' इसी मन स्थिति की देन है जिसम लेखक ने आर्यों के बाहर से आनेवाली धारणा का बडे विस्तार से खडन किया है। सपूर्णानन्द का वेदविषयक अध्ययन इतना पुष्ट था कि उनके तर्कों मे अपने आप एक प्रामाणिक स्वर और मुहावरा आ जाया करता था। ध्यान रखना चाहिए कि उनकी पुस्तक तिलक की उस प्रसिद्ध स्थापना के बाद आई थी कि आर्यों का आदिदेश उत्तरी ध्रुव प्रदेश था। सपूर्णानन्द की इस पुस्तक ने भी इतिहासकारो को काफी आदोलित किया था।

उनके दशन की चौथी पीठिका है *दशन से विज्ञान का समन्वय*। इसके बारे म हम ऊपर लिख चुके हैं कि वे दशन को विज्ञान का पिछलगू नही अग्रज सहयोगकच्छु ज्ञानयज्ञ मानते थे। विज्ञान के प्रति उनकी दिलचस्पी निरतर बढती गई। उन्होने उसका उपयोग अलग अलग पुस्तको मे तो किया ही खगोलविद्या

की ओर उनके आकर्षण का मुख्य कारण भी यही प्रवृत्ति थी। फिर भी वे वैज्ञानिक उपायों के अभाव की पूर्ति के लिए उन्होंने 'भूमा' में गतिविषयक। तथा 'अंतरिक्ष यात्रा' जैसी पुस्तकें लिखीं। इतना होते हुए भी यह कह देना आवश्यक है कि सम्पूर्णानन्द की रुचि मनोविज्ञान, खगोलविद्या, भूमि की उत्पत्ति जैसे वैज्ञानिक विषयों में कितनी भी क्यों रही हो वे विज्ञान की सीमाओं और अपविन्यासों की ओर से भी निरन्तर सावधान रहे। उन्होंने चिद्विलास में ही एक स्थान पर लिखा है— 'विज्ञान की सहायता से मनुष्य ने प्रकृति पर विजय तो पाई, पर इसी के कारण धर्मबुद्धि को विकसित करना भूल गया।'

सम्पूर्णानन्द के जीवन-दर्शन का तीसरा सूत्र है स्वानुभूतियों पर विश्वास। केवल पोथी से काम नहीं चलता। करनी उससे बड़ी चीज है। पर उपदेश कुशल बहुतेरे वालों में वे अपनी गणना नहीं कराना चाहते। क्या तुम स्वयं योगी हो? 'इस सम्बन्ध में इतना ही निवेदन करूँगा कि सद्गुरु की कृपा ने मुझमें योग के प्रति असीम श्रद्धा उत्पन्न कर दी है। मैंने योग और तंत्र के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है वह सब का सब मेरे अनुभव का परिणाम हो या न हो किन्तु मेरे दृढ़ विश्वास का व्यंजक अवश्य है।' यह बात मामूली सामान्य नहीं है। उनके व्यक्तिगत जीवन को सामने ले आने का मैं उचित पात्र नहीं हूँ पर इतना कहना अनुचित नहीं माना जाएगा कि उनके परिवार पर शुरू से ही सिद्ध योगी कीनाराम की कृपा रही। उनके पितामह सदानन्द जी की योग में अच्छी गति थी। इन्हीं के नाम का आधार लेकर सम्पूर्णानन्द के नाम में आनन्द पद जुड़ा जो बाद में पारिवारिक उपनाम जैसा बन गया।

मैं उनके दर्शन का अन्तिम और सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष आपके सामने प्रस्तुत करके इस निबंध को समाप्त करना चाहता हूँ। वह पक्ष है सौन्दर्यानुभूति का। भला अद्वैत दर्शन से इसका क्या सम्बन्ध? यही वह सम्बन्ध सूत्र है जो सम्पूर्णानन्द को दार्शनिकों के बीच से खींचकर साहित्यकारों के पास ले आता है। यही वह बिन्दु है जो इस तर्कप्रधान मनीषी को रसमय साहित्य की ओर आकृष्ट करता है। उन्होंने चिद्विलास के उपोद्घात में लिखा है— 'यह मान लिया गया है कि दर्शन शुष्क विषय है। उसका कला से कोई सम्बन्ध नहीं है। साहित्य के विद्वानों ने रस का विचार करते हुए सौंदर्यानुभूति के विषय में कुछ कहा है पर उनका निरूपण अधूरा है। वस्तुतः वह दर्शन का विषय है।' परिणामतः *चिद्विलास के छठवें अध्याय के सौंदर्यानुभूत्यधिकरण* में इस विषय की एक नई व्याख्या उपस्थित की गई है योगी और कलाकार को एक दर्जे का प्राणी मानकर सौन्दर्यानुभूति की प्राप्ति उसी अवस्था में बताई गई है जिसे समाधि कहते हैं। योगी का प्राप्य भिन्न है कलाकार का भिन्न पर प्रक्रिया दोनों की एक ही है। योगी का ब्रह्म निराकार है पर कलाकार की

समाधि-कल्प अनुभूति सौन्यमयी है। इस दृष्टि से सपूर्णान द ने एस कलाकारो को हेय बताया है जो दिक काल की सीमाएँ तोडकर 'इस स्थिति' से अपने मन को जोड नही पाते। उनकी य सारी स्थापनाएँ आज के साहित्य के लिए बेकार साबित हो सकती है परन्तु इसम सन्देह की गुजाइश नही होनी चाहिए कि सौंदर्यानुभूति पर उनके विचार काल्पनिक नही है। वे ठोस दार्शनिक धरातल पर स्थापित हैं हमे पसन्द आएँ या न आए, यह अलग बात है। बहरहाल इस विषय पर उनके इस मथन ने हिन्दी को एक बहुत ही महत्त्वपूण रचना प्रदान की थी। वह है भाषा की शक्ति'। भारत के बौद्धिको को सबोधित करके लिखी हुई उनकी पुस्तक 'भारतीय बुद्धिजीवी' कभी विस्मृत नही होगी।

यहा सपूर्णानन्द के बौद्धिक व्यक्तित्व की नखदपण छवि मात्र उपस्थित की गई है। आज उनका पार्थिव व्यक्तित्व नही रहा इस पर दुखी होने की जरूरत नही है। उनके वाङमय व्यक्तित्व की अब और भी अधिक तटस्थ मीमासा की आवश्यकता है। हम उनके जीवन रहते उनके पवतारोहण को भले ही न देख सके हो, पवत के उन्नत शिखरो से एकत्रित मधु का अवदान तो वे दे ही गए है। इस मधुप्रतीक को सहस्त्र श्रद्धाजलियाँ।

द्विवचन

तीन अंतर्वार्ताएँ

नारिकेल कुंजो का बूढा ऋतुराज शकर कुरुप

केरल से भाए कई दिन हो चुके हैं। अब भी नीद आने के पहले अधखुली आँखो मे नारियल, ताड और सुपारी के पेडो से ढँकी सरिताओ, सागर भीला और जलाशयो की मन मुकुर धरती धानी साडी के आँचल मे रगीन फूलो के स्तवक ढक्ती छिपाती अलस भाव मुद्रा मे खडी हो जाती है।

आज भी मधुभाषिणी की उस मुद्रा भगिमा की याद मेरे मन को उन्मत्त बना देती है। केरल कचनार हरियाली और सुगन्धित भकोरो का देश है। उसकी अमोनी लुनाई मन को बरजोरी खींचती है और उसके चरणो पर लेटा विशाल समुद्र व्यग्य म अट्टहास करता है। चिक्नी छलकदार प्रकृति हाथो के बन्धन से छट छूट जाती है। चेम्मीन। यह कोई मीनिका या हरिमीन तो नही कि मुट्ठी म बँध जाए। यह अपने धक्के से नौकाएँ उलट देती है। गीली सिक्ता पर कतम्मा के चरणो की छाप उभर आती है और मैं जो हजारो कोस दूर वाराणसी के सूखे और अकाल से जलते इलाके मे बठा हूँ, निरन्तर इस धान पान, आँसू हास भरी धरती को गुहारता हूँ मानस मनु वरू। मानस मनु वरू'। आ जा, ओ मानस की मना आ जा। एक बार तो आ जा।

पर वह नजदीक नही आती। शकर कुरुप कहते हैं कि 'स्नेहत्तिन फलम स्नेहम्। स्नेह का फल स्नेह ही होता है। केरल की धरती की ओर से मुझे काफी स्नेह मिला, विशेषत कवि शकर कुरुप के माध्यम से, जिनका मद्रालय अतिथियो के लिए तो हमेशा खुला रहता ही है अभद्रा के लिए भी। अभी पिछले वष भारतीय ज्ञानपीठ ने इन्हें एक लाख रुपये का पुरस्कार दिया। लख टकिया पुरस्कार। कुछ दबा हुआ। जसे मैं मानता हूँ कि लखटकिया पुरस्कार पा जान स ही कोई बडा कवि नही हो जाता। मद्रालय के द्वार तक पहुचन हुए मन का यह चोर कई बार उदग्र कण्ठ उकसाया-कसमसाया था इसम शक नही। पर कमरे से बाहर आकर जिसने स्नेहिल भाव से हाथ पकड लिया और आव

श्यकता स अधिक नम्रता के साथ माथा झुका लिया उसके सौजन्य को कृत्रिमता कहने की दरिद्रता मेरे भीतर नही। किसी किसी आदमी का ऐसा व्यक्तित्व होता है जो प्रथम क्षण ही मेरे मन पर अपना असली प्रभाव छोड जाता है। यह मैं कैसे कहूँ कि यह सब भावुकता नही है, पर क्या यह सच नही है कि कभी कभी अत्यन्त सूक्ष्म और उलझा हुआ सत्य सिर्फ भावुकता द्वारा ही पकड मे आ पाता है? शकर कुरुप का व्यक्तित्व इतना आत्मीयतापूर्ण है कि वह अनायास मन मे 'क्लिक' कर जाता है।

उन्होने अपने ज्ञानपीठ पुरस्कार समर्पण समारोह म अपने भाषण म कहा था क्या आपस म रक्त सम्बन्ध, हृदय स्पन्द म समान लय और विकास के इतिहास मे सम प्रवृत्ति रखने वाली हमारी भाषाओं और साहित्यो के 'एक *कॉमन वेल्थ को वास्तविक रूप में परिणत करने योग्य शिलादृढ सांस्कृतिक* आधारभूमि नही है?' स्पष्ट ही कवि शकर कुरुप इस तरह के 'कामनवेल्थ' म विश्वास करते है।

प्रश्न भारतीय भाषाओ के कामनवेल्थ को आप निराधार कल्पना न कहकर व्यवहार मे परिणत होने योग्य सम्भावना मानते हैं क्या आप इसके लिए कोई ठोस सुझाव दे सकते है?

उत्तर मैं भारत मे सिर्फ दो भाषाएँ मानता हूँ। आर्य और द्रविड। ये दोनो फेफडे के दोनो भागो की तरह एक दूसरे की पूरक हैं। आर्य संस्कृति की भाषा के रूप मे हिन्दी को प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए उसी प्रकार किसी एक द्रविड भाषा को भी। उस स्थिति म दोनो संस्कृतियो की निकटता सम्भव हो सकेगी।'

प्रश्न जहाँ तक मैं समझता हूँ आज के भारत म आर्य और द्रविड नामक कोई अलग अलग चीजें नही हैं। सब मिश्र हैं। समन्वित हैं। अगर *कभी थी भी तो आधुनिक युग म उनका कोई महत्व नहीं है। क्या आप* अलग अलग दो संस्कृतियाँ मानते हैं?

उत्तर 'मैं नही मानता। पर मेरे मानने न मानने से क्या होता है! लोग मानते हैं। दक्षिण म कैसा असन्तोष है आपने देखा ही होगा। मैं जानता हूँ कि आर्य और द्रविड संस्कृतियों म कितना मिश्रण हुआ है। वेद और पुराणो की कथाओ स लेकर तमिल वालो ने उन्हे नया रूप देने की कोशिश की है। आज तो यह अलगाना भी मुश्किल है कि कौन तत्त्व किस संस्कृति के हैं। इसके होते हुए भी दक्षिण म ऐसे लोगो की कमी नहीं है जो नन नाडु (दक्षिण भारत) और वट नाडु (उत्तर भारत) की बात करते हैं। कोई नम् नाडु (हमारा देश) नही कहता। अभी कुछ दिन पहले एर्णाकुलम म तमिल सस्कृति सघ का एक जलसा की मैंने अध्यक्षता की। वहाँ भी यही बातें निकली। तमिल वाले उत्तर म

सिर्फ बगाल को अपने निकट पाते हैं। यहाँ से सास्कृतिक डेलीगेशन बगाल जाकर सयुक्त मोर्चे बना रहे है। किस उद्देश्य से ? यह तो समस्त भारत के लिए चि ता की बात है। न तो भाषाओ मे उतना अ तर है, न ही इनमे लिखे साहित्य म। सिर्फ लिपियो की भिन्नता के कारण भिन्नता दिखाई पड़ती है। अग्रेजी के समथक अपनी स्वाथ सिद्धि के लिए इस भिन्नता को और बढाते रहते हैं, ताकि अग्रेजी का प्रभाव बना रहे और वह फूले फले। राजा राममोहन राय ने लण्डर किया जिसका हम फल भोग रहे हैं। एक सवमा य भाषा के निर्माण म कितनी कठिनाइयाँ हैं। सस्कृति और भाषा का प्रश्न भी कितना असम्बद्ध और अनुपयुक्त हो जाता है इसे के० एम० मु शी को उदाहरण के रूप मे रखकर देखा जा सकता है। उ होने सस्कृति का इस्तेमाल एक सवमा य भारतीय भाषा के निर्माण को रोकने और अ ग्रेजी को चलाते रहने के उद्देश्य से किया।

प्रश्न 'भारतीय ज्ञानपीठ का प्रथम पुरस्कार दक्षिण के एक कवि को मिला। इससे क्या उत्तर भारत के प्रति विद्यमान रोष म कुछ कमी आई है ?'

उत्तर 'कुछ तो जरूर आई है। 'कलइमगल' के सम्पादक जगन्नाथन ने मद्रास में कहा कि यह एक अच्छा समाचार है। इससे उत्तर और दक्षिण की निकटता बढती है।'

प्रश्न एक सवमान्य भारतीय भाषा के निर्माण के लिए क्या आप कुछ सुझाव दे सकते हैं ?

उत्तर भारतीय भाषाओ स सवनिष्ठ शब्दो को लेकर हि दी विकसित हो तो शायद सवमा य भाषा का स्वप्न पूरा हो सके। इसके लिए आवश्यक है कि हम एक ऐसे राष्ट्रीय शब्दकोश का निर्माण करें जिसमे भि न भिन्न अर्थों के समान शब्द और समान अर्थों के भि न भिन्न शब्दो का सग्रह हो।'

भाषा और सस्कृति के प्रश्नो पर कवि शकर कुरुप का दृष्टिकोण बहुत उदार और राष्ट्रीय है किन्तु उ होने सवमा य भारतीय भाषा के निर्माण के विषय म बहुत विश्लेषण नहीं किया है जो उचित भी है, क्योकि एक कवि के लिए यह बहुत मनपसन्द और बान्यनापूर्ण विषय नही है।

शकर कुरुप सम्पूर्ण केरल म महाकवि के रूप म समादृत हैं किन्तु उनके प्रति विरोध का स्वर भी कम मुखर नही है। यह विरोध प्राय ही उनकी वयक्तिक मानवतावादी दृष्टि के प्रति सावित-सन्धानित रहा है। उनकी दृष्टि को मात्र रोमाण्टिक कहकर केसरी मे एक कडी समीक्षा आई थी जिसका स्वर था कि 'जिस लेखनी को रियलिज्म का नेतृत्व करना चाहिए था, वह पथभ्रष्ट होकर भटक रही है। शकर कुरुप ने बासुरी सग्रह की भूमिका में

स्वयं स्वीकार किया है कि इस आलोचना । उ ? गहरी भाव पहेलाई थी । (बाँसुरी पृष्ठ १०) । जोशी सुन्दरगिरि जैसे प्रगतिशील समालोचकों ने लेखक कुत्य पर हमेशा ही करारा प्रहार किया । जाहिर है कि पहाड़ों की भूमि अंचल में रहने वाले लेखक कुमार जैसे मानसिक भावुक और अपनी निजी चेतना को महत्त्व देने वाले व्यक्ति । साहित्यकार धारणाओं के चक्रव्यूह में घिरकर जो कुछ सोचा समझा और सहा भोगा होगा वह आधुनिक लेखक की नियति से बहुत गहरा सम्बन्ध रखता है । इसीलिए मेरे अगले प्रश्न इसी लेखकीय नियति के इर्द गिर्द की ड्रम ध ।

प्रश्न लेखक की प्रतिबद्धता के विषय में आपके क्या विचार हैं ? क्या आप मानते हैं कि लेखक को किसी एक मत पार्टी या विचारधारा से प्रतिबद्ध होना चाहिए क्योंकि तभी उसकी रचना में एक साहस कमठता आता है ?

उत्तर प्रत्येक लेखक को पहले अपने प्रति प्रतिबद्ध होना चाहिए । लेखक की एक अलग विकास सत्ता है जैसे दूसरे मनुष्यों की । दूसरे मनुष्यों की ही तरह वह भी अपने को पूर्णकाम बनाने के लिए अपने विकास का पथ चुनता है । वह भाषा के माध्यम से आत्मोपलब्धि के लिए साधना करता है । इसी लिए उसकी अपनी प्रतिबद्धता अपने प्रति ही हो सकती है । इसके बाद मेरी प्रतिबद्धता अपने देश के प्रति आती है । समूचे गुण अवगुण सुन्दर असुन्दर के साथ मेरा देश मेरी अभीप्सा का केन्द्र है । क्योंकि वह मेरी मातृभूमि है । मेरी जड़ इस मातभूमि के अलावा और कहाँ हो सकता है ?

प्रश्न तो क्या आप लेखक के लिए सामाजिक उत्तरदायित्व का बोध आवश्यक मानते हैं ?

उत्तर 'प्रत्येक लेखक का सामाजिक उत्तरदायित्व होता है । वह एक फूल की तरह है जो अपने अस्तित्व के लिए समाज से रस ग्रहण करता है । तने से कटकर वह जीवित नहीं रह पाएगा । मैं मानता हू फूल समाज के लिए है । इसी मे फूल का महत्त्व है शोभा है ।'

प्रश्न 'आपकी रचनाओं म जो सास्कृतिक अभिजात है उसे प्रगतिशील आलोचक पस द नही करते । किसी भी श्रेष्ठ कायकृति म किसी मतवाद की छाया अनिवायत खोजना या चाहना निहायत अनुचित प्रयत्न है । क्या आपको साहित्य मे प्रबलतर होते इस तरह के दलवाद और राजनीतिक दुराग्रह से कोई परेशानी होती है ?

उत्तर इस तरह क प्रयत्न हमेशा होते रहे हैं और होते रहेगे । यह ऐतिहासिक प्रक्रिया है । इतिहास हमारी नियति नही है । मैं किसी एक विचार धारा के सामने समपण क्यो करू ? ये सभी आशिक सत्य को घोषित करते हैं और उसी के प्रति हमारी निष्ठा की माग करते हैं । ससार का कोई व्यक्ति

या कोई पुस्तक मनुष्य के भविष्य की यथातथ्य घोषणा करने मे सक्षम नही है। भगवदगीता तक यह नही कर सकी, तो औरो की तो बात ही क्या ! एक आदमी सभी सत्य नही जानता नही जान सकता। कृष्ण, बुद्ध ईसा सभी असफल हो गए, फिर मार्क्स ही सदा सफल कैसे हो सकता है ? वह भी 'फेल' करेगा।"

प्रश्न 'कहा जाता है कि भारत म उच्च कोटि के साहित्यकारो को अपने प्रभाव या पक्ष मे लाने के लिए अनेक तरह के तत्त्व अन्तर्राष्ट्रीय शिविर (रूस, अमरीका, चीन आदि), राजनीतिक सस्थाएँ (काग्रेस, कम्युनिस्ट आदि) या फिर पूजीपति वर्ग के लोग तरह तरह के दबाव डालते हैं। क्या आपके पास इस तरह का कोई अनुभव है ?'

उत्तर लेखक को हमेशा अपने प्रति अपने देश के प्रति ईमानदार होना चाहिए वह इस शक्ति के सहारे बाकी सभी दबावो को असफल बना सकता है। मैं पूर्णत स्वत त्र हू। मैं किसी का दबाव नही मानता। मेरे पास 'फोरम फार कल्चरल फ्रीडम' की ओर से कुछ आग्रह आया। मैंने उसे अस्वीकार किया। सज्जाद जहीर मेरे मित्र हैं। मैं किसी भी प्रकार के बन्धन से रचनाकार का बाधा जाना पसन्द नही करता।

प्रश्न 'आपको ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला। इसस भारत के अधिकाश लोग प्रसन्न हुए होगे कि एक वरेण्य का वरण किया गया। पर पुरस्कार सम्मेलन मे प्रधानमन्त्री नही आइ जबकि वे सोवियत भूमि नेहरू पुरस्कार समारोह म सम्मिलित हुइ, इसे आप क्या कहेगे ?

उत्तर मैं एक बहुमूल्य राजदण्ड की अपेक्षा प्रकाश देने वाली मामूली टार्च अधिक पसन्द करता हूँ।'

प्रश्न क्या आप जिसे सस्कृति आत्मकलास्वरूपावाणी का धार्मिक चित्त कहते हैं वह प्रकारान्तर से अपने से भिन्न एक मतवाद के प्रति आपकी प्रतिबद्धता नही है ?

उत्तर 'यह मेरे वश के बाहर की बात है। एक दिन प्रात काल बाहर आया तो देखा एक छोटा सा पौधा उगा हुआ है। वह बीज के द्विदल को माथेपर सँभाले खडा है। मुझे लगा कि वह प्रणाम की मुद्रा म सिर के ऊपर हाथ जोडे विकास क्रम के अगले सोपान की यात्रा के लिए तत्पर है। मैं सम्पूर्ण सचराचर को उस विराट हृदय की अभिव्यक्ति मानता हू। तिरुमुप्पिल। श्री सन्निधि। यह सारा विश्व ही उसके प्रभाव से मेरे लिए तीर्थ बन गया है। मेरी कविता 'विश्वहृदयम' इसी भावधारा को उपस्थित करती है।'

अचानक मैंने देखा कि कवि कुरुप का मुखमण्डल बहुत कोमल और आर्द्र हो गया है। उन्होने दोनो हाथ माथे के ऊपर जोडकर पौधे की मुद्रा का परिचय दिया तो लगा कि इस कवि के भीतर आस्तिकता और वैचारिक स्नेहार्द्रता

का अदभुत समन्वय है। उस समय उनकी प्रत्येक शिरा मे एक ही कम्प थी—'अमये विटे ! मा कहाँ है ? कहाँ है मा ? अतीन्द्रिय के प्रति आदरामिश्रित जिज्ञासा का यही भाव कुरुप के प्रकृति वर्णना की प्राणभूमि है। उन्ह इस मन स्थिति मे देखकर मने निश्चय किया कि अब इनसे रचना प्रक्रिया के विषय मे सवाल पूछने का समय आ गया है।

प्रश्न 'विश्वहृदय के प्रति आपकी यह आसक्ति आपकी रचना प्रक्रिया मे किस तरह सहायक होती है ?

उत्तर 'मैं अपनी भाषा के माध्यम से विभिन्न वस्तुओ के सही व्यक्तित्व को उपलब्ध करना चाहता हूँ। यह एक सर्वालिंगिन प्रक्रिया इसलिए हो जाती है कि एक ही चेतना वस्तु माध्यम और रचनाकार तीनो मे तरह तरह से प्रति च्छादित हो रही है। मेरी चेतना का कोण सूर्यकान्ति है। विराट चेतना प्रतिदानहीन हो तो भी सूर्यकान्ति के अनुराग मे कोई अन्तर नही आता। मैं *विग्रहाराधक हूँ। विग्रह एक प्रतीक है जो किसी न किसी सत्य को व्यक्त करता* है। इसे आप भक्ति न कहकर आर्द्रता या द्रवणशीलता ही कहिए। यह मेरे भीतर बचपन से ही रही है। सत्य मुझे इसी के माध्यम से रिवील्ड होता है। मैं नही मानता कि ईश्वर सृष्टि से कही अलग है। मनुष्य का मस्तिष्क उसके स्वप्नो से बडा होता है। सृष्टि की वस्तुएँ उस विराट रचना प्रक्रिया की देन हैं। म इसे देखकर आश्चय स ठगा रह जाता हू।

असल मे आज हम भारत के सही विजन का खो चुके हैं। बीसवी शती के आघाता ने हमसे बहुत कुछ छीन लिया है।

प्रश्न यह विजन तब तक आधुनिक अर्थो म साथक नही हो सकता, जब तक भारत के आधुनिक परिप्रेक्ष्यो स वह जुडता नही। आप समसामयिक भारत के किसी पक्ष को लेकर कुछ लिख रहे है ?

उत्तर मैं कोशिश कर रहा हू। इधर मैंने आधुनिक भारतीय इतिहास के कुछ चुने हुए दश्यो को लेकर काव्य लिखने का प्रयत्न किया है। भाखडा नगल को केन्द्र बनाकर कविता लिखी है। आपको नदी सूक्त की याद होगी। धनुधर रथ के घोडो के समान चलने वाली शतद्रु (सतलज)। मैं जब इसके किनारे खडा होता हूँ तो मुझे एक विराट शक्ति शिव सम्मिलन का दृश्य दिखाई देता है। शतद्रु पार्वती है शक्ति है प्रकृति है। समूह मनुष्य जो इसे आलिंगन म बाँध रहा है शिव है पुरुष है। शतद्रु जब क्षुब्ध होती है तो भोग वासियों को मोहनजोदडो म बदल देती है क्योकि वे दुबल और पुरुषत्वहीन थे। शतद्रु केवल कमवीरो का वरण करती है। उस कविता का एक अश सुनिए

शक्तिस्वरूपा प्रकृति और शक्तिमान मनुष्य को सपुलक पूजता मैं भाखडा

नगल पर खड़ा हुआ। दोनों ओर खड़े हैं मानव के आज्ञानुवर्ती होकर गिरि-पार्षद। शारदीय प्रभात। विमल मधुरिम। आदित्य विभु पुरुष प्रकाश के फूलों से उस संगम की पूजा कर रहा है जहाँ शक्तिमान ने शक्ति का आलिंगन किया।

प्रश्न वाह आपने तो खूब स्पष्ट बताया। परन्तु प्रकृति पुरुष की मूल धारणा तो आपकी वही रही उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। और भी कोई 'थीम' ली है क्या ?"

उत्तर हाँ, गांधी जीवन पर भी लिख रहा हूँ। और यह सब कुछ अनुष्टुप छन्द में। लोग कहते हैं कि यह छन्द काव्याभिव्यक्ति के योग्य नहीं है। पर मैं इसकी शक्ति आजमा रहा हूँ। मैं तो मानता हूँ कि भावशक्ति अपने योग्य अभिव्यक्ति-माध्यम स्वयं ग्रहण कर लेती है।

प्रश्न इधर हिन्दी में आधुनिकतावाद की बहुत चर्चा है। नुद्ध पीढ़ी आगे आई है। नग्न यौन सम्बन्धों की चर्चा करनेवाले बीटनिक्स बुभुक्षित, विद्रोही नवयुवकों की संख्या बढ़ रही है जो परम्परा को मृत और अब तक के लिखे साहित्य को कूड़ा कहते हैं। मैं समझता हूँ कि इस तरह के कथन में सत्यांश जरूर है। आपका क्या खयाल है ?

उत्तर मैं आधुनिकता का विरोधी नहीं हूँ बल्कि समर्थक हूँ। पर हमें अपनी आधुनिकता को यूरोपीय आधुनिकता से अलग करना चाहिए। ज्ञानपीठ पुरस्कार समारोह के समय दिल्ली में एक साहित्यिक गोष्ठी आयोजित हुई थी। उसमें बरुआ ने एक बड़ी अच्छी बात कही थी। विश्व में पूँजीवाद है साम्यवाद है चीनवाद है। अलग अलग देशों में अलग अलग विचारधाराएँ चल रही हैं, इसलिए आधुनिकतावाद को अन्तर्राष्ट्रीय कहना बेकार और व्यर्थ है। कहाँ है आधुनिकतावाद ? पाँच हजार वर्षों से इस राष्ट्र ने बहुत-से उत्थान पतन देखे हैं। पर इसके बावजूद यह यदि आज तक बचा है तो स्पष्ट ही ऐसा उसके भीतर की शक्ति के कारण हुआ है। हमें भारतीय आत्मा की उसी शक्ति को उपलब्ध करना चाहिए।

प्रश्न भारत की साम्प्रतिक स्थिति आपके सामने है। अव्यवस्था, अकाल अराजकता, बेईमानी, घूसखोरी भ्रष्टाचार सन्देह अनास्था ग्लानि आदि। ऐसी स्थिति में आप भारत के जिस सांस्कृतिक नाद की बात करते हैं उसके मद्धम सुप्त या मृत होने की आशंका आपको नहीं होती ?

उत्तर मैं आशावादी हूँ। यह मेरी आस्था का ही एक अंग है। इसी के कारण बहुत से लोग सोचते हैं कि मैं आधुनिक परिस्थितियों के प्रति ईमानदार नहीं हूँ। किन्तु बिना आशावाद के मैं चल ही नहीं सकता। यही बात मैं देश के भविष्य के बारे में भी कहना चाहता हूँ। हम सामयिक उथल पुथल से

निराश होने की आवश्यकता नहीं है।'

उन दिनो कलकत्ते म भारत और वेस्ट इण्डीज क बीच क्रिकेट मच चल रहा था। उत्साही दशक पण्डाल शामियानो और कुर्सियों की होली जला चुके थे। मेरे आने के पहले कुरुप जी ट्रांजिस्टर से कमेण्टरी सुन रहे थे। बहुत सा खेल वसे भी अश्रुत रह गया था। रवि कौतुक म बाधक कौन बने। मैं उठ आया। तभी मुझे याद आया कि एक स्थान पर कवि कुरुप ने बिजली को पतले काँच के झीने अवगुण्ठन से झाँकने वाली विद्युत की अप्सरा कहा है। ट्रांजिस्टर उन्हे गधव कन्या लगे, तो क्या आश्चय। ऐसे प्रेमालाप में अधिक अवरोध डालना उचित न होता। 'कनानिक अभिन्नता कवि कला के पखो को सत्य की रक्त शिराएँ प्रदान करती हैं और उसमे उडान की शक्ति भर देती हैं। इसम शक नहीं कि शकर कुरुप म 'कल्पना की मनोरम उडानें हैं किन्तु यथाथ का अभाव नहीं। वे हिन्दी पाठक के दृष्टिकोण से छायावादी कवि ठहरते हैं किन्तु एक ऐसे कवि जिनम पन्त की सुकुमारता है तो निराला की यथाथप्रियता भी। दूसरी ओर भारतीय परम्परा के प्रति उनका अभिज्ञान वज्ञानिक दष्टिकोण से समन्वित होकर आचाय हजारीप्रसाद द्विवेदी की याद दिलाता है। इस दष्टि से शकर कुरुप के वाङमय म सौकुमाय यथाथ और मानवतावादी चिन्तन की एक अद्भुत त्रिवेणी दिखाई पडती है।

एक जलती शाम द्विवदी जी के साथ

गर्मियों म आचाय हजारीप्रसाद द्विवेदी जब काशी आते हैं हर शाम उनके निवास-स्थान पर एक खासी मजलिस जम जाती है। भयानक लू से तपे दिन की उमसती शाम कहकहों की बौछारों म नहा जाती हैं। बातों का दायरा अजीब प्रतिवादी छोरों को छूने लगता है। उसके घेरे मे हिन्दी के शोध अनुसंधान स लेकर लिग्वास्लमोतवान साहित्यिक पुरस्कारों से लेकर हिन्दी विभागाध्यक्षों के कचहरी मामले रुपये के अवमूल्यन से लेकर चण्डीगढ पर मँडराते पाकिस्तानी वायुयानों की भयानक यादें—सभी कुछ सिमट आते हैं। प० विष्णुकान्त शास्त्री तुलसी के विनय काव्य पर शोध के सिलसिले मे अयोध्या हो आए। कनक भवन म बठकर विनयपत्रिका का पाठ कर आए। हनुमानगढी के हनुमान को भी सुना आए। महन्ता के चरणोदको म सकल भय रुज-नाशक शक्तियों के बारे म वैरागियों के अटूट विश्वास के लतीफों पर ठहाके लग रहे हैं। डा० रामपूजन तिवारी आए हैं कभी 'रायिस्ट थे अब सूफिया पर शोध करत हैं। शायद हर रायिस्ट' कभी न कभी सूफी हो जाता है जसे वात्स्यायनजी हो। कहकहे तडतडाते हैं। पहल पण्डितजी की बातो म कबीर की साखियाँ सस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश की सूक्तियों के बेल-बूटे टँकते थे इधर नई कविता के कसीदे भी उभर रहे हैं सिफ मजाक म नहीं, काफी सजीदगी के साथ।

नय साहित्य के प्रति उनकी इस रुझान का ही नतीजा है, या किसी और बा कि वे आजकल बहुत-सी बाता पर निस्सकोच अपनी राय व्यक्त कर देते हैं। मुझे यह परिवर्तन कुछ इतना प्रीतिकर लगा कि मैं उनसे साहित्य के कुछ अहम मसलो पर ये सवाल कर बठा। भूमिका क रूप म प्राथना की कि यदि जवाब बिना लाग-लपेट क दे सकें तो ही पूछू। व एक क्षण चुप रह मूछो म उगली डाले। (मैंने भी मान लिया कि इण्टरव्यू लेना बेकार है।) फिर मुझे

अनुद्यत देख बोले— अच्छा पूछो।

इधर आपने इतिहास लेखन के सिलसिले मे आधुनिक साहित्य को खूब विस्तार से पढा है। नवलेखन के बारे मे आपकी क्या धारणाएँ बनीं?

हाँ इधर बहुत कुछ पढा है पर अभी भी खूब अच्छी तरह पढने का अवसर नही मिला। कविता कहानी की बहुत सी चीजें देखी हैं। कुछ काफी अच्छी लगी। महत्त्वपूर्ण। बहुत सी फैशन की उपज हैं। अनुकरणात्मक। उनमे मुझे अनुभूत सच्चाई का अभाव लगा। मदानजी कहा करते हैं कि आज कल कविता तो है कवि नही हैं। इसका मतलब है कि कुछ अच्छी कविताएँ तो मिल जाती हैं पर कवियो का कोई विशिष्ट व्यक्तित्व नही बन पा रहा है। कविता के सकलनो को देखते जाओ, लगेगा कि बहुत सी कविताएँ एक जसी हैं। इन्हें देखकर मुझे लगा कि आज का कवि अपने अनुभवो के आधार पर कुछ विशिष्ट, कुछ अलग नही दे पा रहा है।

तो क्या आप मानते हैं कि आज का साहित्य धुरीहीन और विकेन्द्रित है?

मैं इन शब्दों का प्रयोग तो नही करूँगा, पर बहुत बिखराव है यह सही है। मेरा कहना यह नही है कि बिखराव न हो। वह तो होगा। जीवन मे ही बिखराव आ गया है, तो साहित्य मे क्यो न होगा। पर अन्ततोगत्वा यदि सब कुछ पकड से छूट ही जाए तो फिर साहित्य का प्रयोजन ही क्या रहेगा। मुझे लगता है कि आज का साहित्यकार किसी भी जीवन व्यापी महत मूल्य से सम्बद्ध नही रह गया है। जीवन की विसगति विघटन और बिखराव के बीच वह खुद दिग्भ्रमित हो गया है और किसी नतीजे पर नहीं पहुँच पा रहा है।

तो आप क्या साहित्य मे सोद्देश्यता आवश्यक मानते हैं?

सोद्देश्यता पिछले सेवे के साहित्यकारो के लिए एक अनिवाय वस्तु थी वह एक निश्चित उद्देश्य लेकर साहित्य लिखता था। जैसे प्रेमचन्द यशपाल या जनेन्द्र को ही लो। ये कहानी लिखने के पहले एक उद्देश्य तय कर लते थे। उन्हें निश्चित बात कहनी थी। वसे तो कहानी म इन्होंने यथाय का परिवेश स्वीकार किया कि तु यथायगामी यह प्रयत्न भी आइडियलिस्टिक (आदशवादी) था। यानी एक आइडिया तय करके उसके अनुसार जीवन को उपस्थित करना। आज का लखक इस तरह का कोई आइडिया लेकर नहीं चलता। यह ठीक है। क्योंकि 'आइडिया या उद्देश्य ऊपर से आरोपित नही होना चाहिए जीवन के भीतर स फूटना चाहिए। मगर लाख कोशिश करने पर भी उसकी रचनाओ से यह फूट नहीं रहा है।

इस बात को थोडा और स्पष्ट कीजिए।

यो समझो। भारत की प्राचीन चित्रकला को लो। उसम रेखाएँ पहल

बना ली जाती थी, यानी खाका तैयार करके उसमें रंग भरने का प्रयत्न किया जाता था। भारत ही क्या, सारे एशिया की यह प्रणाली थी कि रेखाएँ तय करके उसमें भरावट की जाती थी। रेखा यानी सीधी ब्रह्मरेखा। चित्रकार इसी मूल रेखा के आधार पर निश्चित भाव के चित्र निर्मित करता था। इसे किधर कितना झुकाए, कितना बल दे, कि वह शृंगार, रौद्र, या फिर हास्य या किसी और रस भाव की सृष्टि कर सके, यह उसका प्रयत्न होता था। रेखाओं की सारी भंगि मूल रेखा को दृष्टि में रखकर व्यवस्थित की जाती थी। पश्चिम की प्रणाली भिन्न है। वे लाइट और शेड (प्रकाश छाया) के संयोजन के द्वारा रेखाओं का बोध जगाने का प्रयत्न करते हैं। उनकी आधुनिक चित्रकला में यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। उनका प्रयत्न होता है कि पहले 'लाइन' तय न हो प्रकाश और छाया की ऐसी व्यवस्था की जाए कि लाइन' स्वयं आ जाए। हमारा आधुनिक साहित्यकार इस पद्धति को अपना रहा है, पर अभाग्य वश उसके सारे प्रयत्नों के बावजूद कोई ठीक सीमा बन नहीं पाती, या उल्टी सीधी ऐसी बन जाती है कि पाठक विरक्ति अनुभव करने लगता है।

आपका मतलब यह है कि लेखक कोई निश्चित 'लाइन' उभार नहीं पा रहे हैं।

मैं आज की कहानियां और कविताएं पढ़ता हूं तो लगता है कि कुछ बात बनी नहीं। बहुत कहा पर उसमें कुछ स्पष्ट होकर उभरा नहीं। महादेवीजी की एक पंक्ति है मैं अपने बेसुधपन में कहती कुछ, कुछ कह जाती। आज की एक सर्वमान्य प्रवृत्ति है शब्द का कम से कम अपव्यय। यह एक अच्छी बात है। नई कविता में यह प्रवृत्ति खूब है। कम से कम शब्दों का खर्च, तथा सन्दर्भ को अधिक से अधिक अनुमान के लिए छोड़ देना। मगर ऐसा अरूपीकरण किस अर्थ का कि वह निरर्थक हो जाए। कहानियां पढ़ता जाता हूँ तो लगता है कि अनावश्यक बातें बकी जा रही हैं जिनका कहीं से कोई तारतम्य नहीं।

यही तो अ-कविता अ-कहानी का लक्षण है।

होगा। पर यह बात गाठ बाँध लो कि जो इस पूरे बिखराव को संभालने में सक्षम हैं, जिनके पास समटने की कला है, वस्तुतः वे ही उच्च कोटि का सृजन कर सकते हैं जो अचेत हैं उनकी पकड़ में यह बिखराव कभी बंध नहीं पाता। छूट जाता है।

आप नई कविता में क्या कुछ ऐसे कवियों का नाम लेंगे जो आपकी इस सक्षमता वाली तुला पर सटीक उतरते हों।

क्यों नहीं, गिरिजाकुमार माथुर, भवानीप्रसाद मिश्र (वसे वे कई बातों में कुछ पुराने लगते हैं) सर्वेश्वर कुंवर नारायण भारती में यह क्षमता दिखाई

पडती है।

अज्ञेय के बारे मे आपका क्या खयाल है ?

अज्ञेय म दोनो ही प्रवत्तियाँ दिखाई पडती है।

और मुक्तिबोध ?

मुक्तिबोध का सकलन 'चाँद का मुह टेढा है' मैंने पढा है। दो तीन कविताए निस्सदेह उच्चकोटि की हैं, जसे 'अँधेरे म'। लेकिन शेष कविताओ को देखकर लगता है कि इनके जगल मे कवि खो गया है।

भारती के बारे मे कुछ कहिएगा ?

भारती ने बहुत अच्छा लिखा है, काफी महत्त्वपूण। इधर 'ठण्डा लोहा' भी पढा। कई कविताएँ बहुत अच्छी हैं। और फिर 'कनुप्रिया'। उच्चकोटि की कृति है। कही कही भावुकता का रग जरूर गाढा हो गया है, पर भारती समथ कवि हैं इसम सन्देह नही। असल मे पुरानी परम्परा की समृद्धि और नवीन की बौद्धिकता का सम वय बहुत जरूरी है। पुरानी परम्परा भाव तक सीमित है। बौद्धिकता का रूप वहाँ दशन का विषय हो जाता था। आज का कवि बौद्धिकता का पक्ष लेकर अनासक्त सक्ति की बात तो करता है, पर हो नही पाता। परिणामत साहित्य म न तो भाव जगत ठीक से प्रतिष्ठित हो पा रहा है न बौद्धिक विवेक। आधुनिक मनुष्य निणयात्मिका बुद्धि की ओर अग्रसर होना चाहता है पर साहित्य म उसकी प्रक्रिया क्या हो इस पर बहुत सही ढग से विचार नही कर पा रहा है।

आप बौद्धिक दष्टि से साहित्य की सामथ्य का विश्लेषण करके किस नतीजे पर पहुचना चाहते हैं ?

देखो भाई, मैं कविता को प्रिमिटिव कला मानता हूँ। सगीत इसका एक छोर है। मात्र शब्द। कविता मे शब्द और अथ का योग है। यहाँ शब्द और अथ म कौन प्रधान है, कहना कठिन है दोनो का तुल्यतर योग होता है। कविता म एक शब्द हटाकर उसका पर्याय नही रखा जा सकता। कहानी म रखा जा सकता है क्योंकि कहानी अथ प्रधान चीज है। वह प्रिमिटिव नही है सिवलिजशन (सभ्यता) स जुडी हुई चीज है। इसी कारण आधुनिक जीवन क बिखराव और उलझनो को व्यक्त करन की क्षमता भी उसम कविता की अपेक्षा अधिक है। कविता सश्लेषण प्रधान होती है वह साधारणीकरण चाहती है कहानी विश्लेषण प्रधान है। वह विशेषीकरण की प्रक्रिया है। आधुनिक कवि जब कहानी लिखता है तब वह कवि धम स च्युत होता है छन्द के बिना कविता नही हो सकती। मैं यह मानकर चलता हूँ कि छन्द का अथ लोग मोटे ढग म पिगल नहीं मान लेंगे। कला की सबस बडी शक्ति उसकी नमनीयता है रिद्म। जिसम जितना अधिक कव लेने की सामथ्य है वह

उतनी ही उच्चकोटि की कला का सृजन कर सकता है। तानपूरे में स्वरों में 'कंच' की जो शक्ति है वह हारमोनियम में नहीं है। अर्थ की प्रधानता तो इतिहास में भी है कहानी में भी। पर कहानी इतिहास नहीं है, क्योंकि उसमें 'कंच' के कारण एक विलक्षण शक्ति और सामर्थ्य आ जाती है जो इतिहास में नहीं होती। आज के कहानीकारों से मेरी शिकायत यह है कि वे समस्याओं से टकराकर खुद बिखर जाते हैं, उन्हें सँभाल नहीं पाते, उनमें 'कर्वेचर' का अभाव है।

आपने अभी कुछ कवियों का नाम लिया था, क्या कुछ कहानीकारों का भी नाम लेंगे जिनमें आपको यह कर्वेचर दिखाई पड़ता है ?

क्यों नहीं। तुम्हारी कहानियों में यह 'कर्वेचर' है। मन्नू भण्डारी, उषा प्रियम्वदा, कमलेश्वर, निर्मल वर्मा और शिवानी में मुझे यह क्षमता दिखाई पड़ती है।

नये साहित्यकारों से क्या आपको कोई शिकायत है ?

मेरी शिकायत यह है कि हिन्दी का सांस्कृतिक 'बैकग्राउण्ड' (पृष्ठभूमि) काफी कमजोर होता जा रहा है। नये लोगों को पढ़ने से परहेज है। अपना जो कुछ पुराना साहित्य या वाङ्मय है, उसके प्रति अरुचि होती जा रही है। परम्परा ज्ञान लुप्तप्राय है। दूसरी कलाओं के बारे में भी चाहे प्राचीन हों या नवीन, उदासीनता बढ़ रही है। इतिहास से कटकर कोई भी कभी समृद्ध नहीं हो सकता। नये लोगों में तो जैसे 'न पढ़ने' या 'न सीखने' का फैशन चल गया है। मेरे एक शिष्य हैं। पी एच० डी०। उनका मैंने अभी एक निबन्ध पढ़ा। लिखा है कि मैं पी एच० डी० होना नहीं चाहता था पर हो गया। यह तो मैं ही जानता हूँ कि बिचारे उस पी एच० डी० के लिए कितने व्यग्र थे। निबन्ध पढ़कर मुझे बड़ा दुःख हुआ कि बिचारे को नाहक पी एच० डी० दे दी, क्योंकि इससे उसे अपने अनपढ़ होने का रोब लेने में बाधा पड़ रही है। यह हालत है आज हिन्दी साहित्यकारों की। अध्यवसाय और परिश्रम जहाँ उपहास की चीज हो जाए वहाँ सांस्कृतिक स्तर की क्या आशा की जा सकती है ?

इस सांस्कृतिक दारिद्र्य का कारण क्या है ?

दरिद्रता का कारण दरिद्रता है और क्या ?

मेरा मतलब यह है कि क्या हिन्दी क्षेत्र पहले से ही सांस्कृतिक दृष्टि से ऐसा ही दरिद्र था कि अब हो गया है ?

पहले ऐसा दरिद्र नहीं था। अब हुआ है। कारण यह है कि हम अपनी विरासत के प्रति अचेत हैं। यानी कपूत। यह कितने दुःख की बात है कि बाप दादा के इतने बड़े उत्तराधिकार से हम कट गए हैं और अपने खोखलेपन को विज्ञापन की चीज मानते हैं।

क्या आधुनिक स्थितियों में आप यह मानते हैं कि कोई भारतीय संस्कृति नामक चीज हो सकती है ?

क्या नहीं हो सकती ? सर्वोत्तम को रूप देने का प्रयास ही संस्कृति है। क्या आज भारत के पास कुछ भी ऐसा नहीं जिसको रूप दिया जाए। माना पहले से बहुत भिन्नता आ गई है पर जो है वह सर्वथा तिरस्कारणीय नहीं है। जिसके पास अपनी कोई जीवन दृष्टि नहीं है कोई दर्शन नहीं है स्वकीय पद्धति नहीं है वह कभी कोई बड़ी चीज दे सकता है इसमें मुझे सन्देह है। जो अपनी इस संस्कृति को नहीं समझ रहे हैं वे ऐसे ही लुढ़कते रहेंगे, इसमें कोई शक नहीं। माना कि आज बहुत परेशानी है भुखमरी है, बेरोजगारी है—पर 'लोग मर रहे हैं' ऐसा चिल्लाने से क्या लाभ होने वाला है। यह सब कैसे खत्म हो आखिर इसके लिए भी कुछ करो, कुछ बताओ, चिल्लाना भर तो साहित्यकार का दायित्व नहीं है।

प्राय कहा जाता है कि सन साठ के बाद नवलेखन में एक परिवर्तन आया है। रचनाओं मे बिखराव कुण्ठा, सन्त्रास विसंगति के स्वर ज्यादा मुखर हुए हैं। इसका कारण लोग चीनी आक्रमण और केरल म साम्यवादी सरकार की बर्खास्तगी जसी घटनाओं मे खोजते हैं। क्या आप इससे सहमत हैं ?

बिल्कुल नहीं। ये दोनों कारण फालतू हैं। यदि ये प्रवृत्तियाँ साहित्य म या जीवन म बढ़ी हैं तो इसलिए कि सवेदन चित्त को लग रहा है कि इस देश म चीजें जसी चलनी चाहिए नहीं चल रही हैं। यह अपने प्रति अपना ही क्षोभ है। मैं इसम उपर्युक्त घटनाओं का कोई प्रभाव नहीं देखता।

किन्तु जसी स्थिति चल रही है यानी घोर निराशाजनक उसमें क्या आपको नहीं लगता कि साहित्य सिर्फ अँधेरे मे चीख बनकर रह जाएगा ?

कसी वाहियात बात है। मैं तो भाई घोर आशावादी हूँ। इसलिए मैं खूब अच्छी तरह जानता हूँ कि यह सब निराधार और बकवास मात्र है। तुम क्या समझते हो ये सब जो लोग लिख रहे है, वे लेखक हैं ? इनमे से बहुत से नये लेखक जीनेवाले नहीं हैं। कल को इनमे बहुत से सरकारी नौकरियों म चले जाएँगे। बहुत से वहाँ पहुँच जाएगे जहाँ वे अनुशासनहीन भीड पर लाठी चार्ज कराएगे। बहुत से काम धन्धा ठीक होते ही लिखना पढना छोड देंगे। सारी निराशा हवा हो जाएगी। साहित्य अँधेरे की चीख कभी नहीं बना है कभी नहीं बनेगा। अच्छे अच्छे लोग आते रहते हैं और आएगे जिनम जीवन के दृढ बद्ध मूल्यों के प्रति आस्था होगी। और वे साहित्य को सही दिशा की ओर ले जाएँगे।

क्या आधुनिक भारतीय साहित्यकार को राजनीति से कोई खतरा है ?

मुझे तो नहीं लगता। अभी तक तो यहाँ साहित्यकार ही राजनीतिक को

निन्दा करता रहा है। किसी राजनीतिज्ञ ने साहित्यकारों के खिलाफ शायद कुछ नहीं कहा। बात यह है कि राजनीति और साहित्यकार को एक दूसरे का विरोधी समझने की धारणा पुरानी है। आज की सही राजनीति साहित्य को अलग करके नहीं चलती। लोकतन्त्रों की यही विशेषता है। एक ही मूलभूत विचारधारा साहित्य और राजनीति दोनों में अपने अपने ढंग से काम करती है। हां जहां तानाशाही है वहां साहित्यकारों को जरूर खतरा है। जैसे आजकल चीन में साहित्यकारों पर दबाव डाला जा रहा है और यूनिवर्सिटियों पर कब्जा किया जा रहा है भारत में ऐसी स्थिति बिलकुल नहीं है।

गुटबन्दी करके गलत या सही तरीके से अपना विज्ञापन या पुरस्कार तथा सम्मानादि पाने के प्रयत्नों के बारे में आपकी क्या राय है?

मैं यह मानता हूं कि ग्रुपिज्म (गुटबन्दी) मध्ययुगीन मनोवृत्ति है। बिलकुल आधुनिक विरोधी। स्वतन्त्र विचार का आधुनिक साहित्यकार गुट क्यों बनाएगा भला! गुट से शक्ति पाने का प्रयत्न बिलकुल असाहित्यिक है। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि जो साहित्य रचना में कोई पूर्वनिश्चित लाइन को मानकर नहीं चलना चाहते वे लाइन बनाकर चलना चाहते हैं।

किन्तु ऐसा प्रयत्न सिर्फ नये लोग ही तो नहीं करते?

जो भी करता हो वह मध्ययुगीन है।

पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी के बीच के तनाव के बारे में आपकी क्या राय है?

पुरानी परिपाटी वाले निरुद्देश्य साहित्यिक प्रयत्नों को दाद नहीं देते नयों को लगता है पुराने रास्ता रोककर खड़े हैं। हिन्दी में पुरानी पीढ़ी वाले प्राय सहृत ही हैं। मुझे नहीं याद आता कि कभी पुरानों ने नयों के खिलाफ कोई 'पम्फलेट' निकलवाया या 'मनिफेस्टो' छापा।

कल बातचीत के सिलसिले में आपने कहा था कि साहित्यकारों को पुरस्कार, सम्मान आदि नहीं मिलना चाहिए ऐसा क्यों?

मैं अपने निजी अनुभवों द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि ये पुरस्कार वगैरह बन्द कर दिए जाने चाहिए। पुरस्कारों को देने में जो तटस्थता बरती जानी चाहिए वह नहीं बरती जा रही है। इससे हानि ही हो रही है। साहित्यकार अपने को निर्मोही और तटस्थ तो कहते बहुत हैं पर उनके मोह और आसक्ति की कोई सीमा नहीं रहती। हर हिन्दी साहित्यकार अपने अलावा किसी और को कुछ नहीं समझता। उसके घनिष्ठतम साथियों में से भी किसी एक को पुरस्कृत कर दो तो शेष बुरा मानकर पीछे पड़ जाते हैं। दल बांधकर और वोट बटोरकर पाए जानेवाले पुरस्कारों से साहित्य का कोई हित नहीं होगा।

इधर नवलेखन वाले प्राध्यापकों के खिलाफ और कुछ एक प्रध्यापक नव लेखकों के खिलाफ हाथ धोकर पड़े हैं ऐसा क्यों ?

यह हिन्दी का दुर्भाग्य ही है और क्या कहें। प्राध्यापकों के प्रति विद्रोह असल मे पढने लिखने के प्रति विद्रोह का ही रूप है। अध्यापक की कमजोरी यह है कि वह अध्यापन को पेशा बनाकर उसी म कूपमण्डूकवत जी रहा है। साहित्य उनके लिए वत्ति है जीविका। वे परिश्रम से बचने के लिए नई वस्तु को ग्रहण करना नही चाहते। असल म साहित्य का अध्यापन और साहित्य रचना दोनो एक-दूसरे के पूरक हैं। प्राध्यापक को साहित्य को प्रापर पसपेक्टिव' म देखने का प्रयत्न करना चाहिए। अनुसन्धान और ऐतिहासिक व्याख्या का अपना एक महत्व होता है। इतिहास एक अनन्त प्रक्रिया है। कोई भी अनुसन्धायक 'इदमित्थ' नही कह सकता। अपने विचारो से मोहग्रस्त होकर नये विचार को स्वीकार न करना भी मध्ययुगीन मनोवत्ति का परिचायक है। प्राध्यापक का काय है कि वह अनासक्त भाव से नये साहित्य को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य म रखकर देखे। जो लोग नये साहित्य को देखने का अवसर नही निकाल पाते और अपने एतिहासिक अनुसन्धानो म लगे रहने के कारण नयो को दाद नही दे पाते वे नयो द्वारा निन्दित हो यह भी स्वस्थ प्रवत्ति नही है।

गुबारे कारवाँ बाकी

शब्दलोक' श्री रामचन्द्र वर्मा के लाजपत नगर वाराणसी स्थित मकान का नाम है। वाक्यपदीय म भर्तृहरि ने लिखा है 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यश्शब्दानुगमाद ऋते' यानी कुछ भी शब्द के बिना नही है। यह बात वर्माजी के जीवन पर पूरी तरह लागू होती है। उनका पूरा जीवन शब्दमय है। १६११ ईस्वी म नागरी प्रचारिणी सभा ने हिन्दी के प्रथम प्रामाणिक और विस्तत शब्दसागर का काय शुरू कराया। इस अनुष्ठान के केन्द्रीय पुरुष श्यामसुन्दरदास थे और दोनो रामचन्द्र—शुक्ल और वर्मा—उनकी भुजाए। आठवें खड मे भूमिका के साथ दी गई चित्रावली मे यह प्रतीकाथ व्यजित है। वर्माजी पिछले सत्तावन वर्षों स अपने जीवन का सवस्व इस शब्दयज्ञ म होम करते आ रह है। दिममान स अपनी वातचीत के दौरान वर्माजी ने जो कुछ कहा उसके महत्त्वपूण अश यहा ज्यो के त्यो दिए जा रहे हैं।

— शब्द साधना की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा आपको कहा से मिली ?

मैं उस समय पन्द्रह सोलह वष का था। अग्रेज़ी की जेम डिक्शनरी देखकर प्रेरणा जगी कि क्यो न हिन्दी म भी एक ऐसा ही लघु कोश बनाया जाए। उस वक्त हिन्दी मे कोई काम चलाऊ कोश भी नही था। जे० फगुसन का १७७३ ई० मे रोमन अक्षरो मे अग्रेज़ी हिन्दुस्तानी कोश निकाला था। हिन्दी मे गौरी नागरी कोश हिन्दीकोश श्रीधरकोश मगलकोश आदि छोटे मोटे कोश अवश्य थे, पर ये पर्याय कोश मात्र थे। ये किसी काम के न थे। १६११ ई० मे बाबू श्यामसुन्दरदास की आज्ञा से मैं नागरी प्रचारिणी सभा के कोश विभाग म आया। यही से शब्द साधना विषयक मेरे सकल्प का व्यावहारिक प्रारम्भ समझना चाहिए।

— आप कोश विभाग म कितने वर्षों तक रहे ?

१६२१ म कोश का काय पूरा हुआ। तभी मैं वहाँ स अलग हुआ। बीच मे एक बार जब कोश विभाग जम्मू चला गया था मैं वहाँ न जा सका। लाला भगवान दीन, भट्टजी, शुक्ल जी, अमीरसिंह आदि गए। इस व्यवधान क अलावा मैं लगातार कोश विभाग म काम करता रहा।

— इन अठारह वर्षों मे कोश विभाग म काय करते हुए हिन्दी शब्द कोश निर्माण के माग म आप लोगो को किन किन कठिनाइयो का सामना करना पडा ?

उस समय की कठिनाइयाँ आज की दृष्टि से कितनी बडी मानी जाएगी मैं नही जानता शायद आज हिन्दी की अभि यक्ति शक्ति के विकास के कारण वे कठिनाइयाँ कुछ तुच्छ लगें। हम शब्दो की व्याख्या करने म अपार कठिनाई होती थी। 'करना' शब्द की ऐसी व्याख्या कीजिए कि उसम करना क्रिया कहीं न आए। मुझे याद है कि इस शब्द की व्याख्या करने में शुक्लजी को और मुझे तीन चार दिन माथा पच्ची करनी पडी थी। इसी तरह जोडना लगना, उठना आदि अति परिचित शब्दो की व्याख्याएँ अत्यन्त कठिनाई की चीज बन जाती थी।

— नागरी प्रचारिणी के कोश विभाग से हटने के बाद आप व्यक्तिगत तरीके से ही शब्द साधना के उस महत्त्वपूण श्रम और श्रमसाध्य काय को करते रहे। क्या इस बीच किसी सस्था सरकार ने आपको कोई सहयोग या कायभार नही सौंपा ?

वह एक दु खद प्रसग है। मैंने पिछले बीस पच्चीस वर्षों मे जिन मानसिक और आर्थिक कष्टो को झेला है, उनकी गाथा क्या सुनाऊँ। इस देश म अभी भी श्रम का कोई मूल्य नहीं मिलता।

— फिर भी, मैं तो यही जानने के लिए आया हू। अपने साथ हुए दुर्व्यवहारो और सलूको को भूल जाना व्यक्ति की शालीनता है! पर उन्हें इस तरह ढपा-तोपा रखने से तो अनथ परम्परा फूलती फलती रहती है। इसे जान लेने पर भी कोई कुछ कर पाएगा पता नही, पर जान लेना भी कम महत्त्वपूण तो नही है!

शब्दकोश विभाग से हटने पर बिलासपुर के महाराज के बुलाने पर डेढ दो साल उधर रहा। फिर मुझे साहित्य सम्मेलन ने मानक कोश का काय सौंपा। यह काय सम्मेलन के शासन नियुक्त अधिकारी श्री जगदीशस्वरूप *की कृपा से मिला। सम्मेलन के अन्य अधिकारी इस निश्चय के विरुद्ध थे।* फलत उन लोगो ने मेरे कार्यों मे अनेकश बाधाएँ डाली। मेरे विरुद्ध प्रचार किया। यानी सक्षेप म यह कि मुझे चार वर्षों का वेतन दिया और दस वर्ष तक काम कराया।

— इस तरह का कोई अनुभव क्या प्रांतीय या केन्द्रीय सरकार के साथ भी हुआ ?

केन्द्रीय सरकार के शिक्षा मन्त्रालय ने शब्दार्थ मीमांसा के कार्य के लिए ग्यारह हज़ार रुपये स्वीकृत किए। इसमें हिन्दी के कुछ शब्दों की व्युत्पत्ति और व्याख्या का कार्य होना था। मैंने पाँच छः हज़ार शब्दों का हिसाब रखा था। पता नहीं उनकी फाइल के किसी कागज़ में शब्द संख्या दस हज़ार किस तरह हो गई। मैंने कभी यह संख्या लिखी नहीं। खैर, शिक्षा मन्त्रालय ने कार्य नहीं करने दिया। यही नहीं, मानक कोश के लिए अनुदान की प्रार्थना के उत्तर में लिखा कि परीक्षण के बाद पता चला है कि मानक कोश को अनुदान न दिया जाए। मैं शिक्षा मन्त्रालय के परीक्षण का अर्थ जानता नहीं क्या। मैंने लिखा कि दो मालाएं नमूने की भेज दें। बस सारी योग्यता हवा। यह है हालत सार्वजनिक संस्थाओं की और सरकार की।

— हिंदी के कोश निर्माण के भविष्य के बारे में आपके क्या विचार हैं ?

भविष्य के बारे में क्या कहूं। कोश का कार्य अनन्त है। जो हुआ है, उस पर अनवरत संशोधन और परिष्कार होता चलना चाहिए। मगर कौन करे ? मानक कोश छप गया। लीजिए यह देखिए उसकी फाइल। आप कोई भी फर्मा उठा लीजिए, विस्तृत संशोधन मिलेगा। मेरी तो यह हाबी है। देखिए हाशिए रंगे हैं। पन्ने जोड़ जोड़कर सुधार और संशोधन किए गए हैं। कई बार सम्मेलन वालों को लिखा है कि कोई आकर देख तो ले। कोई नहीं सुनता। कब तक अपने पास से खाते रहें और बढ़ाते चलें ? यह कब तक करूँ ?

— वाकई यह बड़ी दर्दनाक स्थिति है। सारा हिंदुस्तान तो अकृतज्ञ नहीं है आप लोगों की इन निःस्वार्थ सेवाओं का कहीं न कहीं मूल्य तो है ही।

सो ठीक है। शुक्लजी मरे। अरथी निकली। उसी दिन मैंने प्रतिज्ञा ली कि ये तो अपना बहुत कुछ चिता पर लेकर चले गए, पर कोई पूछे या न पूछे मैं नियमित, मेरे पास जो कुछ है लिखता जाऊंगा। लिखता रहा हूँ। निःस्वार्थ भाव से काम करने वालों का कारवां गुजर गया। मैं गुबार की तरह बचा हूँ। देखिए, यह सब कब तक चलता है।

— जिस देश में सर्वप्रथम कोशकार्य शुरू हुआ निघंटु बने यास्क जैसे निरुक्तकार हुए उसी देश में ऐसे कार्यों के प्रति ऐसी उदासीनता क्या है ?

मैंने इस पर विचार किया है। मुझे लगता है कि मूल कारण उदासीनता ही है। लोग अपनी भाषा के बारे में ही उदासीन हैं। उसका कैसे परिष्कार

हो, शक्ति बढे, वसे उसे सब प्रकार से समृद्ध किया जाए इस पर लोगो का ध्यान ही नही जाता। और तो और साहित्यकार और विद्वान लोग भी इन सब चीजो के प्रति उदासीन हैं। सास्कृतिक गत्वरता ही मर गई है जसे।

— क्या आपके विचार से लघु आक्सफोड शब्दकोश की तरह का कोई प्राय परिपूण किस्म का शब्दकोष हिन्दी म है ?

मेरे देखने मे नही आया।

— ऐसा क्यो ?

इसके लिए भाषा का स्थिरीकरण आवश्यक है। हमारी लिपि भी काफी सदोष है। शब्दो का क्रम वनानिक तरीके से ठीक नही हो पाता।

— हिन्दी कोशकारो की एक प्रवत्ति यह भी है कि वे व्यवहृत भाषा से सीधे शब्द सकलन नही करते। सस्कृत, फारसी और हिन्दी उदू क कोश लेकर शब्द सकलन कर देते है। सख्या लाखो तक पहुँच जाती है, पर उनमे कभी कभी बहुप्रचलित शब्द नही मिलते। व्युत्पत्ति और सही प्रयोगो के निर्देश की तो बात ही और है।

आप ठीक कहते हैं। नानमण्डल और भागव शब्दकोशो म यह प्रवत्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँची दिखाई पडती है। वे लोग मोनियर विलियम के पूरे सस्कृत शब्दकोश को हिन्दी मे ढाल देते हैं। फारसी और उदू के भी एसे ऐसे शब्द सकलित कर लेते हैं जिनके उन भाषाओ तक म प्रयोग अप्रचलित हो गए हैं। त्वाष्ट्री हूफू वष्ट भगु, सडीन स्फूजथु हेयक जसे शब्दो का हिन्दी से क्या प्रयोजन ! इल्लत फाइली इशतराकिया मुस्तौजिरी जसे शब्द क्या हिन्दी म प्रयुक्त होते हैं ? प्रयोग पर किसी की दृष्टि नही सख्या लाखो मे पहुचनी चाहिए। यह कची लेई वाद है जो हिन्दी शब्दकोशनिर्माण म बहुत बडी रुकावट डाल रहा है। कोश का काय तभी आगे बढ़ सकता है जब कुछ लोग शब्द और ग्रथ की खोज म जीवन अर्पित करें।

— ऐसी प्रवृत्तियो पर तो प्रतिबन्ध लगना चाहिए। इन्ह रोकने की जरूरत है।

कोशकार जब तक सही ढग के नही आते ये प्रवृत्तियाँ कसे रुकेंगी ! असल म कोशकार को अपने उद्देश्य और जनता क प्रयोजन के बारे म स्पष्ट बोध होना चाहिए।

— शब्दाथ विज्ञान की उन्नति क लिए क्या आप कुछ सुझाव देंगे ?

वतमान युग अनुसन्धानो का है। नाना विषयो और क्षेत्रो म विद्यार्थियो को विशेषज्ञ बनाने क लिए करोडो रुपय खच किए जाते हैं। सभी सुविधाए जुटाई जाती हैं। कीडे-मकोडो और पेडे-पौधो तक क अगो उपागों क अध्ययन म इतना सब किया जा रहा है सभी क्षेत्रो म नये निष्कर्षों व ज्ञान का भडार

घट रहा है फिर सभी ज्ञान विज्ञान के माध्यम भाषा और उसकी मूल शक्ति शब्दार्थ के अवपण का प्रयत्न इसी पैमाने पर क्या नहीं किया जाता ? मेरी हार्दिक इच्छा है कि हिंदी में शब्दार्थ विज्ञान का कार्य व्यवस्थित और शास्त्रीय स्तर पर चलाया जाए।

— क्या आप हिन्दी के लेखकों और पाठकों को कोई सन्देश देना चाहते हैं ?

मैं तो अपने बुज़ुर्गों के आशीर्वाद पर चलता रहा। मैं हिन्दी का अदना सेवक हूँ। मैं सन्देश क्या दूं। मेरी कामना जरूर है कि हिंदी के साहित्यकार नाम और दाम की चिन्ता छोड़कर काम पर ध्यान दें। जहां तक हो सके शुद्ध हृदय से हिंदी की सेवा करें। अपने बारे में उदासीनता छोड़ें। सारे जमाने में कितनी उथल-पुथल मची है कितनी गतिमयता है और हम यों ही अपना समय बिता रहे हैं। मुझे उर्दू के शायर की ये पंक्तियाँ याद आती हैं

इधर फ़क़त कट रही हैं घड़ियां
उधर जमाने बदल रहे हैं।

आत्मनेपद

तीन आत्मवीक्षाएँ

मन का दर्पण
बनाम कुछ न होने का कुछ

प्रिय भाई

आपने समय की जो वदिश बाधी है, वह टूटने का आई और मैं हूं कि वादा करके भी अपनी कहानियां की रचना प्रक्रिया पर कोई टिप्पणी लिख न पाया। ऐसा नहीं कि मैंने जानबूझकर इस काम में ढिलाई की। बल्कि अब तो यही कि सोचने की बहुत कोशिश की और हर कहानी के साथ लिपटी स्मृतियों को, उसके सृजन के दिनों की मनःस्थिति को और उन सबके साथ कागज पर कहानी शुरू होने के पहले शीर्षक के पास गोदे टाके चित्रों को कुरेदने का प्रयत्न किया है कि कुछ भी तरतीब के साथ विचारात्मक ढंग से कहना मुश्किल लगता है। मेरी यह निहायत बुरी आदत है कि मैं जरा सा मूड आते ही कहानी लिखने का सकल्प करके बैठ जाता हूं और तीन चार सतरें लिखकर अंतिम सतर को प्रायः अधूरी ही छोड़कर हाशिये पर या पन्ने के ऊपर खाली जगह पर आड़ी तिरछी बिन्दुओं भरी या लहरिया किस्म की सैकड़ों रेखाएँ खींचकर गौर से देखता हूँ कि इनमें कुछ उभर तो नहीं रहा है। मसलन कोई चेहरा कोई मकान कोई खिड़की कोई पक्षी या फिर और कुछ नहीं, तो कोई कटी पतग कोई खाली कनस्तर या कोई फूला गुब्बारा ही सही। मैं सोचता हूं कि मेरे इन चित्रों को कहीं किसी फ्रायडीय मानस पुत्र ने देखा, तो क्या कहेगा—शायद सजोफ्रेनिया (Schizophrenia) यानी मनोरोग का लक्षण। किन्तु मुझे याद है कि एक बार ऐसा करते मेरे अबोध पुत्र नरेन्द्र ने पास आकर टोका था 'क्या बाबूजी हिरना बना रहे हैं न ?' मेरी कलम रुक गई थी और मैं उसकी ओर अजीब ढंग से ताकता रह गया था। बड़ा रौब जमाने हुए मैंने घरवालों को समझाया था कि आज मैं कुछ काफी महत्त्वपूर्ण काम करने के लिए एकांत में बैठा हूँ शोर नहीं होना चाहिए—और अब यह छोकरा मेरी सारी कारगुजारी पर हेडिंग मार रहा है कि मैं हिरना बना रहा हूं! हाँ हाँ,

हिरना बना रहा हूँ भाग यहाँ से। मैंने डाँटा और वह चला गया। वह चला गया तो मैंने अपनी निगाहनी पर पूरा नजर डाली। आपसे सच कहता हूँ, बहुत गौर करने पर भी मुझे कहीं हिरना नजर नहीं आया। दो रेखाएँ समानान्तर उचकफर ऊपर जरूर गई थी पर वे हिरन की सींग से ज्यादा हल समता रखती हैं। दो रेखाएँ थोड़ा वय लेती नीचे बाइं ओर और दो दाइं ओर गिरी थी य पर जगा सग गरती थी। पर यह आकृति हिरना की कतई नहीं लगती थी। पर ज्या ज्या मैं उस दाग को दखता रहा, मुझे जाने क्या लगने लगा कि इधर उधर कुछ घिस घास करने से यह हिरना नहा, तो हिरना जमा तो जरूर हो जाएगा। और मैंने कुछ घिस घास की भी। और यह सब कुछ मिल मिलाकर एक भाड़े किस्म के हिरना जैसा हो भी गया। मैंने नरेन्द्र को बुलाकर दिखाया तो उसने दाद दी और कहा कि उसने अपनी ड्राइंग कापी म जो हिरना बनाया है, उतना अच्छा नहीं है। वह विरक्त होकर चला गया और मैं काफी उदास हो गया। इसलिए नहीं कि उसे मेरा बनाया हिरना पसन्द नहीं आया बल्कि इसलिए कि हिरना बनाने के पहले जो मैंने कुछ नहीं सा कुछ बनाया था, वह बिल्कुल नष्ट हो गया था। सो भाई, रचना प्रक्रिया के बारे म सचेत होने का अथ मैं यह घिस घास ही मानता हू जिसके चलते लोगो को अपने मन माफिक आकृति भले ही दिख जाए और वे दाद भी दे दें। सृजक को तो यह पीड़ा झेलनी ही पड़ती है कि उसके कुछ न होने का कुछ इस सचेतना की मुट्ठी से फिसल ही गया, जिसे वह खूब चाहकर भी पुन कभी पा नहीं सकता।

यह कुछ न होने का कुछ मेरी दृष्टि से लेखक के मन से सम्बधित है। और मन कोई प्याज की ग्रंथि तो नहीं कि उसके छिलके पर छिलके उतार दिए जाएँ और इस खूबी के साथ कि सारा खेल-तमाशा दिखाकर उन्हें एक म एक समोकर साबुत भी रख दिया जाए। मन प्राय सबका एक ही जाति का है किन्तु कलाकार का मन सृजन की शक्ति और प्रक्रिया के बारे मे सचेत होने के कारण कुछ भिन्न हो जाता है। क्रिया की समस्याएँ वस्तुओं के स्वभाव और समय का छन्द मन की जागरूकता के अलग अलग पहलू हैं। वह कभी इस पहलू मे पहलू बदलता है कभी दूसरे मे। कहानी का स्वरूप यद्यपि सभी पहलुओं के समवाय से उत्पन्न होता है किन्तु यह आवश्यक नहीं कि मन म यह समवाय सृजन के पहले से ही निश्चित हो चुका हो। कभी क्रिया खीचती है *कभी वस्तु और कभी समय। इसे और ज्यादा स्पष्ट करके कहू तो यह कि* खुद अपनी क्रिया या कम या समानान्तर जीवन जीने वाले किसी व्यक्ति के कम हम आकृष्ट करते हैं। किन्तु कम या घटनाएँ वस्तुओं की तरह हमारे सामने अपना सही अथ नहीं खोलती। इन कर्मों पर मन म बार बार मथन चलता

है। यह लेखकीय मन की विशेषता है कि वह अपने और दूसरों के कर्मों को वस्तुओं की तरह उन पर अर्थों का लेबुल लगाकर खाना म नहीं रख लेता, बल्कि उनसे बार बार टकराकर उनके भीतर के छिपे अर्थ को खोजने या उन तक पहुँचने की कोशिश करता है। कर्मों को भी समाज अपनी आदत के मुताबिक विभिन्न खानो म बाँटकर पहचानने की कोशिश करता है। उदाहरण के लिए समाज म नेकी बदी कायरता, क्रूरता, दुष्टता, अत्याचार, बेईमानी पाप-पुण्य आदि क मोटे मोटे रूप तयुदा हैं। क्या लेखक के मन की गठन और आदत धीरे धीरे कुछ इस कदर की बन जाती है कि वह इन तयुदा खानो म बँटे कर्मों को तयुदा अर्थ नहीं देता। वह उनके चमकीले और स्पष्टाभास म प्रतीत होते आवरण को चीरकर भीतरी अर्थ तक पहुँचना चाहता है। ये कर्म कितने परिचित पर कितने गूढ होते हैं नन्हो कहानी की चूडिया की तरह। नन्हो जब इन्हें पहनना नहीं चाहती थी तो ये जबदस्ती उसके हाथ मे पिन्हायी गई और जब, उन्हें उतारना नहीं चाहती, तो लोगों ने जबदस्ती हाथों से उतरवा दिया। कर्मों के सही अर्थ के बारे म इकाई और समाज के बीच एक तरह की कशमकश हमेशा चलती रहती है। इसका मतलब यह नहीं कि कथाकार, व्यक्ति और समाज के बीच व्याप्त संघर्ष को तीव्र करना चाहता है। सच तो यह है कि इकाई और समाज की कर्मों के बारे म सोचने की प्रक्रिया जुदा जुदा होती है। समाज, आवरणमूलक सत्यो या मूल्यो का हिमायती होता है जबकि इकाई अपने भोगे हुए अनुभव और कमाये हुए सत्य को चाहकर भी भुला नहीं सकती। यह संघर्ष एक प्रकार से दोनो के एक दूसरे के प्रति फिर बढने के प्रयत्न का ही रूप होता है।

मैंने पहली कहानी किस मूड या प्रेरणा या मन स्थिति म लिखी यह तो आज स्पष्ट नहीं है पर मैं इतना अवश्य जानता हू कि इसम इकाई के निजी अनुभव की प्रमुखता थी। 'दादी मा' कहानी को अब धीरे धीरे उसका ऐतिहासिक प्राप्य मिल रहा है। यानी अब मेरे नातिप्रीति आलोचक भी यह कहने लगे हैं कि नई हिन्दी कहानी की शुरूआत दादी मा से हुई। (देखिए माया, जनवरी १९६५ नामवरसिंह का निबन्ध) किन्तु अब भी दादी माँ की विशेषताएँ स्पष्ट करने का प्रयत्न ऊपरी आवरण तक ही सीमित है। प्रेमचन्द की ग्राम कथाए वगगत चरित्रो के सामाजिक खानो म बँटे कर्मों के तयुदा अर्थों को प्रधानता देती थी। इसी कारण प्रेमचन्द सामाजिक यथाथ के बाहरी रूप के सफल कथाकार हो सके। दादी माँ ग्राम जीवन की पहली कहानी थी जिसमे निजी अनुभव और भोगे हुए सत्य की व्यथा को व्यक्त किया गया था। कुछ लोग इसका सस्मरणात्मक होना कहानी का दोष मानते हैं किन्तु निजी अनुभूति की प्रखरता और उसकी सही अभिव्यक्ति की माग के कारण, इस

कहानी का संस्मरणात्मक हो जाना स्वाभाविक है।

चरित्र और उनके बाद इसी कारण मुझे बहुत बहुत आकृष्ट करते रहे हैं। इधर विदेशी समीक्षाओं और उनकी प्रवृत्तियों के नकलची लोग 'चरित्र' नाम में ही पुरानेपन की गंध खोजकर चरित्र के खिलाफ झटपटाते रहे हैं। चरित्र आज भी आधुनिकतम लेखक के लिए भी प्रबल चुनौती है। मानव पदार्थ, बाह्य और आभ्यन्तर, दोनों ही पहलुओं से हमारी सचेतनता और सृजन प्रक्रिया के लिए चुनौती है। मानव पदार्थ सामान्य पदार्थ या वस्तुओं से बिल्कुल भिन्न ढंग से हमारी बुद्धि के आयाम बनते हैं। हम किसी भी मनुष्य को उस रूप में *नहीं समझ सकते जिस रूप में हम मेज-कुर्सियों किताब को समझते* हैं। मनुष्य को सिर्फ एक ही प्रकार से अवगत किया जा सकता है वह है उसकी सम्पूर्ण परिस्थितियों के बीच स्थिति का अवबोध। जड़ पदार्थ अनन्त *रूपों में विभाज्य हैं। किसी फटे पन्ने को देखकर निश्चित किताब का जहाँ* से वह पन्ना लिया गया है अवबोध सम्भव नहीं है किन्तु मात्र सिर हाथ उंगली दाढ़ी या आंख देखकर एक मानव सत्य का बोध होता है कि ये मनुष्य शरीर के अवयव हैं। फिर व्यक्ति उस प्रकार से हमारे अध्ययन का विषय बनने को तैयार भी नहीं होता जैसे जड़ पदार्थ हो जाते हैं। मानव पदार्थ अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अधिकारों से सम्बलित है। चूंकि मानव सत्य हमेशा ही परिस्थितियों से आवेष्टित है, इसलिए चरित्र का तात्पर्य इन परिस्थितियों के सही रूपों का विश्लेषण है। और ये परिस्थितियाँ दूसरी ओर आबद्ध समय के छन्द से जुड़ी होने के कारण परम्परा आधुनिकता समसामयिकता और दूसरे कालयुक्त आयामों से आबद्ध भी होती हैं। इसलिए चरित्र का नाम सुनकर चौंक जाना या इनको केन्द्र में रखकर कहानी के गठन की बात करने की प्रक्रिया को पुरातापन मानना बौद्धिक निर्बलता का सूचक है। मेरी अनेकानेक कहानियाँ चरित्र प्रधान हैं। अगर मैं ईमानदारी से कहूँ तो यह कि मेरी पचास प्रतिशत से अधिक कहानियों की प्रेरणा में चरित्रों का योग है यानी सृजन प्रक्रिया की दृष्टि से मुझे परिस्थितियों से सम्बलित आस्थापित चरित्र पहले आकृष्ट करते हैं बाकी चीजें बाद में। जगत के चरित्र ज्यों के त्यों कहानी के अंग प्रायः नहीं बनते। रचना प्रक्रिया के बीच कहानीकार की यथार्थ की सचेतनता इन चरित्रों का खण्डन अनेक टुकड़ों में बाँटकर पुनः नये ढंग से इनके संयोजन का प्रयत्न करती है। इस पुनर्संयोजन में लेखक की निजी अनुभूतियों की लगावट भी बहुत बड़ा काम करता है। भिन्न भिन्न परिस्थितियों में कमाये अनुभवों के रासायनिक द्रव चरित्र खण्डों का एक निश्चित अर्थ की दृष्टि में रखकर जोड़ते रहते हैं। लेखक की सफलता इस बात में होती है कि वह अपने भीतर चारित्रिक स्थितियों और संघर्षों का तथा जीवन की वास्तविकता का ऐसा सूक्ष्म, सही

ग्रौर प्रामाणिक ग्रनुभव रखे कि भिन्न भिन्न समयो म उपलब्ध चरित्र-खण्डो को सही ढग स जोड सके।

यह जोडाइ एक जीवित चरित्र तो दे देगी, किन्तु यह चरित्र एक 'ग्राइडिया' बन जाए एक सूक्ष्म कथ्य का रूप ल ले इसके लिए कुछ ग्रौर उच्च-स्तरीय चेतना की ग्रावश्यकता होती है। जिस दार्शनिक लहजे म 'प्री रेफ्लेक्सिव कागिटो कहा जाता है। चरित्रों के बहुविध कर्मो के भीतर, समय के छन्द की सही प्रक्रिया का ग्रनाव यक कम परिपाटी स ग्रलग करके इस तरह से ग्रपनी चतना प्रवाही धारा (स्टीम ग्राव काशसनस) म बहाना कि चरित्र की ग्रभिव्यक्ति एक निश्चित ग्राइडिया का रूप ले ल यह बहुत कठिन ग्रौर सूक्ष्म कथा कम है। यह कथाकार के लिए तो चुनौती होती ही है प्रबुद्ध पाठक के लिए भी। मेरी हिन्दी पाठको से यह शिकायत रही है या यो कहिए कि प्रकारान्तर से ग्रपने प्रति शिकायत रही है कि लोग चरित्रो को तो पकड ग्रौर समझ लेत हैं किन्तु उनके जीवन के सम्बद्ध ग्रसम्बद्ध कर्मो का क्या इस ढग से नियोजित किया गया है ग्रथवा इस नियोजन के भीतर स कोई ध्वन्यात्मक कथ्य उभरता है या नही इस समझने की बहुत कम कोशिश करते हैं।

इन सभी धारणाग्रो को ग्रपनी शक्ति भर रूप दन के लिए मैंने ग्राम-जीवन से ही ग्रधिकाश चरित्र चुने। यह मेरी विवशता इसलिए है क्योकि मैं इन चरित्रो के बाह्य ग्रौर ग्राभ्यन्तरिक रूपो को ज्यादा ग्रासानी स समझता हू। किन्तु एक कारण ग्रौर भी रहा है इकाई की प्रधानता वाले चरित्र जन धारा म नहीं किनारा पर छोडे हुए ही ज्यादा मिलते हैं। मैं ग्रपनी एक कहानी की यहाँ व्याख्या करने चला हूँ, यद्यपि यह मुझे पसन्द नहीं पर रचना प्रक्रिया पर बात करने पर भी सब-कुछ ढँपा-तोपा रह जाए, यह कब सम्भव है! कहानी है 'धारा' जो नई कहानियाँ म छपी थी। इसमे एक प्रमुख चरित्र है तिउरा। गाँव से दूर एक जगली परती के छोर पर झोंपडिया म रहने वाले एक ग्रादिम सस्कृति के भग्नावशेष परिवार की लडकी। मुसहर कजड या ऐसी ही कुछ।

इस कहानी को मैं कहता हूँ जो लेखकीय इकाई है थोडी ढकी थोडी खुली। पहली बार इस लडकी को रचते समय मैं एक पेड के नीचे बैठा हूँ जिसकी बारिश घुली जडो का स्तूप उघडा हुग्रा दीख रहा है जमीन भी जाने कैसे-कैसे भेद छिपाए रहती है! इस देखकर पहली बार यह ज्ञात हुग्रा कि पेडो की शाखें जितनी लम्बी, चौडी छितनार ऊपर होती हैं उनकी जडें भी उतनी लम्बी चौडी घनी नीचे होती हैं।' यह पक्ति उस पेड के बारे म जितनी मौजू है उसस कहीं ग्रधिक ग्रादमी के जीवन के बारे म जिसकी परम्परा ग्रौर ग्राधुनिकता की जडें ग्रौर शाखें प्रतिकूल दिशाग्रो म बढ़ती हैं फिर भी दोनो ही

एक ही पेड़ का हिस्सा हैं। तभी मैं उस धरती को देखता हूँ उसके छोर पर स्थित आपकी था, और लगता है 'आधुनिक जैसे इन-शान के साथ हमेशा इस धरती को तोड़ने की कोशिश कर रहे हैं, फिर भी पूरी तरह इसे मगन जोत में मिला न सकी। आकाशी और जोत यानी आधुनिक संस्कृति की धारा के बीच कुछ ऐसा द्वीप हैं जो उसमें पूरी तरह घुल मिल नहीं सके। यह संघर्ष जारी है। ग्रामीण जीवन के संस्कारों को हमारी आधुनिक सभ्यता तोड़ रही है पर ऐसे चरित्र हैं जो पूरी तरह उस धारा में नहीं आए। ये धारा में आए में इसका पूरा समर्थक हूँ। मैं आधुनिक जीवन की प्रगति और भविष्योन्मुखी महायात्रा में आस्था रखता हूँ। धारा में आस्था रखता हूँ। पर धारा में कूदो या वहीं खिंच जाने का दर्द भी समझना चाहता हूँ। 'तिउरा' पास के कस्बे की एक आढ़त में काम करती है। साहियों क्लाउर्ज, आधुनिक जीवन के आकर्षण दिखाकर मुनीम उसे एक दूसरी दिशा में मोड़ता है। तिउरा ने ईमानदारी के साथ आधुनिक सभ्यता की दिशा में मुड़ने की कोशिश की। उसे गर्भवती होने पर मुनीम छोड़ देता है और उसके माँ-बाप उसे घर से नहीं निकालते बल्कि धरती की उस झोंपड़ी को छोड़कर और तिउरा को भी वे चले जाते हैं। इसी बीच मैं जो एक पढ़ा-लिखा बेकार और उपेक्षित प्राणी था नौकरी पा जाता है। माँ-बाप खुश हैं। आधुनिक सभ्यता की इस नई उपलब्धि यानी शहर में नौकरी पाने की खबर पर। पर मैं सोचता है नई ज़िन्दगी कौन सी है वह जो मैं अभी अभी खत्म कर चुका हूँ जहाँ मेरे लिए कोई सहारा न था! स्पष्ट ही यह प्रश्न उन सबके लिए है जो धारा में उत्साह से कूदे पर न तो उस किनारे पहुँचे जहाँ कोई सहारा मिले न इस किनारे जहाँ उनको पुराना का ठिकाना था। धारा में कूदने वाला हर कोई पार ही तो नहीं लगता और जो नहीं लगे क्या उनकी ज़िन्दगी कम आधुनिक है? कहानी चरित्र प्रधान है। तिउरा का चरित्र ही मुख्य है मगर यह चरित्र एक आइडिया में बदल जाता है जिसे आज का आलोचक या तो समझ नहीं पाता, या फिर कोशिश नहीं करता क्योंकि वह जानता है कि इन ग्रामीण चरित्रों में भला ऐसी क्या बात हो सकती है जिस पर सोचा जाए। हिन्दी में कठमुल्लापन बढ़ रहा है। कामू के चरित्रों के बारे में जो अक्सर ग्रामीण चरवाहे गवई स्कूल के मास्टर आदि होते थे, क्योंकि उसने अल्जीरिया के अरब कबीलों को बहुत निकट से देखा था, यही आरोप लगाया गया था, और लगाया था सार्त्र ने। किन्तु कामू के साथ आत्मघाती पीड़ा नहीं थी कि उसकी रचनाएँ आंचलिक खाते में डालकर रख दी गईं और उन्हें गम्भीरता से पढ़ने की कोशिश नहीं की गई। बहरहाल।

मेरी रचना प्रक्रिया का दूसरा महत्त्वपूर्ण बिन्दु वस्तुओं के स्वभाव से सम्बद्ध है। अपने बाहर और मानवीय अस्तित्व को छोड़कर, दूसरा जो कुछ

भी है सभी पदार्थ हैं, वस्तुएँ हैं। पदार्थ किसी वस्तु के लिए निश्चित पद का अर्थ ही तो है। इस कारण वस्तुओं के रूप में हमें जो कुछ प्राप्त है वह नाम-रूप' का क्रीडाक्षेत्र है। वस्तुएँ इस निश्चित नाम और रूप से कुछ भिन्न हैं ? इस प्रश्न के विषय में कथाकार की जागरूकता परिस्थितियों और मनुष्य के कर्मों को समझने की सही दृष्टि देती है। जड़ और चेतन जगत का यह विभाजन, दैनंदिन जीवन में कभी समस्या नहीं बनता किन्तु मानव मन की प्रक्रिया इनसे प्रभावित जरूर होती है। इसी कारण ऐसी स्थिति में जब मन की दैनंदिन गति बाधित होती है अथवा कोई संकट या उद्वेग का क्षण आता है वस्तुओं और मनुष्य के बीच कृत्रिम रूप में अनजाने स्थापित सम्बन्ध टूट जाते हैं अथवा बदल जाते हैं। यह स्थिति केवल दो प्रकार से आती है। एक तो असामान्य मनःस्थिति में दूसरे अबोध अचेतनता में। इसे मैं उदाहरण देकर स्पष्ट करूँ

'अँधेरी चादर से ज्यों ज्यों उजास फूटने लगा, मुझे मेरा ही घर आंगन बुहारी, गिलास लोटे, बाल्टी, इधर उधर गिरा हुआ पानी सभी सब कुछ जैसे अपरिचित, मायूस, डरे डरे से प्रतीत होने लगे।' (मुर्दा सराय) अपनी पत्नी की मृत्यु से आघातित परिस्थिति में मानव और जड़ पदार्थों के बीच का परिचय सूत्र कटा-सा प्रतीत होने लगा।

दूसरी ओर 'खरा पीपल कभी न डोले' कहानी के अबोध बच्चे, उस पीपल को, जिसकी छाया में वे अनेक खेल रचाते थे, अचानक भूल गए

मैं तो इन छोकरों पर हैरान हूँ कि जो सुबह से शाम तक इन मले मानसों के चारों ओर हाथ में हाथ फँसाये चक्कर लगाया करते थे और जिनके दिलों की दुनिया, कबूतरों की तरह फड़फड़ाती हुई, पुरुषोत्तम काका या तुलसी बुढ़िया के कहकहों के अड्डों पर हमेशा मँडराया करती थी वे ही इस तरह बिल्कुल कैसे भूल गए ! कहीं ये इसी तरह खरा पीपल को भी तो नहीं भूल जाएँगे ? सच ही छोकरे एक दिन खरा पीपल को बिल्कुल भूल गए।

यह भूलना एक तरह से मानव का वस्तुओं पर अधिरूढ़ होना है। मानव की प्रकृति है कि वह वस्तुओं को हमेशा अधिकृत करना चाहता है। कथाकार की जागरूकता इस बात में नहीं है कि वह मानव और पदार्थों के सम्बन्धों को स्वयंसिद्ध मानकर चले, बल्कि व्यक्तियों और पदार्थों के बीच आन्तरिक स्तर पर बनते बिगड़ते सम्बन्धों के प्रति सतत जागरूक रहे।

वस्तुएँ मूल में नामरूप की मानवारोपित धारणाओं से रहित होकर जिस स्थिति में रहती हैं उसके प्रति सचेतनता हमारे कार्य को आसान बनाती है। कलाकार के साथ कठिनाई यह है कि वह जिस भाषा का प्रयोग करता है वह भी व्यक्त होकर एक वस्तु बन जाती है। यानी जो जीवित ब्रह्ममय शब्द हमारे भीतर है, जिसमें किसी भी धारणा को हम व्यक्त करना चाहते हैं जब

नामस्थानान्तर कर सकता है, तो मनन उसे विभिन्न वस्तु का रूप प्रदान कर सकता है। हमारी कठिनाई गुबह के बाद कहानी के पूरनाम को भी है

ऐसे मौके पर पण्डित पूरनाम का बुरा हाल हो जाता। वे नाम कहकर भी गुस्से से भरा रहता भी नहीं बात मन। किसी ही बार गुस्सा आता। ठाय न कुछ कर जाते या वह यारहा शान्ति करते पर हर बार अंगार की तरह दहकते हुए लाल उनके मुंह के बाहर निकलते ही निगल हुए भाव की दांत में कुड़मुड़ाकर रह जाते। मनन इस प्रकार शान्ति के बाद वे हमेशा ही बहुत खामोश हो जाते।

अंगार की तरह जलती तेजोमय परावाक मुख से बाहर आकर राख में बदल जाती है। तेज या ज्योति या शब्द शक्ति है जो जड़-वस्तु में प्रसंग है पर राख तो जड़ पदार्थ से भिन्न नहीं है। दाह को राख में बदल जाने से राखन के लिए कथाकार हजारों विधियों का उपयोग करता है। बिम्ब, इमेजेज, प्रतीक, मिथक, उपमान आदि तरीके इसी प्रकार की विधियां हैं किन्तु इन विधियों का घेरा भी वस्तुओं के स्वभाव को ठीक से समझकर ही पार किया जा सकता है। क्योंकि बिम्ब या प्रतीक या अन्य कोई प्रयोग सूक्ष्म या स्थूल पदार्थ अथवा वस्तुओं से ही निर्मित होते हैं। यह सही है कि इनके निर्माण में सृजक की ज्योतिवाही चेतना का भी संयोग होता है इसी कारण इनकी आभा और रंग जागतिक पदार्थों से किंचित भिन्न होते हैं। अर्थ का संयोजन भी आवरणमूलक तनुदा खाना से भिन्न ढंग से किया जाता है। परन्तु कुल मिलाकर कथा की गठन विधियाँ (डिवाइसज) वस्तु के अन्तर्गत ही परिगहीत की जाएगी। मेरी आरम्भिक कहानी के विषय में लोगों का आरोप था कि इनमें प्रकृति का चित्रण बहुत ज्यादा होता है। किन्तु वे चित्रण कभी भी स्टिल फोटोग्रैफी नहीं थे, उनमें वस्तुओं के स्वभाव और मानव सम्बन्धों की स्थितियाँ स्पष्ट थीं। मैं मनुष्य और पदार्थ के बीच की हारमनी का कायल रहा हूँ और प्रकृति के विषय में उसकी भयानकता और निममता के दार्शनिक दृष्टिकोणों को समझने बूझने के बाद भी मेरी इस धारणा में परिवर्तन नहीं आया है। यह सही है कि कहीं कहीं इन सम्बन्धों की मेरी व्याख्याओं में रोमण्टिक आग्रह उभरा है किन्तु जहाँ प्रकृति के प्रति चेतना का उद्दाम सम्पर्क होगा वहाँ ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं है। मेरे इमेजेज प्रतीकों और मिथक अथवा लोककथात्मक अभिप्रायों को समझने के लिए मेरी इन धारणाओं का जानना जरूरी हो जाता है। मेरी रचना प्रक्रिया में ऐसे तत्त्वों की इतनी व्याप्ति और विविधता है कि मैं बहुत संक्षेप में इसकी पूरी चर्चा नहीं कर पाऊँगा।

मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि लम्बे लम्बे वाक्यों में अपनी बात व्यक्त करने वाले लेखक वे होते हैं जो समय के बारे में बहुत स्पष्ट और अवगम्य

धारणा रखते हैं। किन्तु लम्बी लम्बी सांस लेने की प्रक्रिया को, समय के बारे में बहुत जागरूक होना मान लेना भी ठीक नहीं होगा। वाक्यों के गठन और निर्माण की मेरी प्रक्रिया दोनों के बीच पड़ती है। यह मुझे अक्सर दोषपूर्ण लगती रही है।

उदाहरण के लिए

'ऐ छोकरे, सुनता भी है जाने कब से बुला रहा हूँ और तू है तानसेन का दादा बना कि बस अनापशनाप भरे जा रहा है मुड़कर देखता तक नहीं। दीनू ने मुड़कर देखा, नक़द दो दर्जन गालियां निकाल ली थीं, हलक तक, तावड़तोड़ दाग देने के लिए पर सामने डाकिए को खड़ा देखकर सहम गया।

यह पूरा का पूरा एक वाक्य होता है। यद्यपि इसमें अनेक वाक्य और पूर्ण वाक्य इस तरह संयुक्त हैं कि सबकी इकाई अलग अलग प्रतीत होती है। परन्तु इसके बारे में मैं कभी भी जागरूक नहीं रहा, जो समय को ठीक से अनुशासित करने का बिल्कुल आधुनिक तरीका है। मेरी दृष्टि हमेशा उस वक्तव्य के साथ ऐसी चिपकी रहती है, जो प्राय अपने सही रूप में व्यक्त होने से कतराता है कि अभिव्यक्ति के वृत्त अक्ष पर ध्यान नहीं जाता। मेरे मित्र श्री जगदीशजी भारतीय ज्ञानपीठ वाले अक्सर डांटते हैं शिवजी, काश, तुम यदि एक बार अपने लेखन को दुहरा लेते— तो सच कहता हूँ यह और भी निखर जाता।' उनकी शिकायत यह है कि मैं डाटस बहुत मारता हूं। वैसे मेरी यह आदत इधर कम हुई है। पर मैं लाचार हूँ। मुझे हमेशा यह लगता है कि जिस ढंग और गति से मेरे दिमाग में भावों की भीड़ अकुला रही है व्यक्त होने के लिए उस ढंग और गति से मेरी लेखनी साथ नहीं दे पाती। इस शाखामृगीय प्रक्रिया में बीच के एकाध वाक्य या शब्द जरूर गोल हो जाते हैं। और लेखनी अपनी मजबूरी के निराकरण के रूप में लुप्त वाक्य या शब्द के लिए डाटस छोड़ देती है। मेरी रचना प्रक्रिया की यह बहुत बड़ी त्रुटि है। लेखनी चुप होती है तो दस पंक्ति लिखकर घंटों चुप रहती है कभी कभी हफ्ता, और चलने लगी तो इस गति से कि पन्ने के पन्ने रंगे जाते रहे और साँस लेने रुके तो पाए कि तर्जनी उंगली बुरी तरह दुख रही है। शान्त निस्द्वेलित जिसे कोल्ड माइंड कहते हैं, उस अवस्था में सोच सोचकर लिखने की प्रक्रिया प्राय मेरी नहीं रहती। बचपन में यही हाल दूसरे कामों के साथ भी था और कभी हड़बड़ी में कुछ टूट फूट जाता तो पिताजी बिगड़ते क्या लग्न में जन्म है न? मैं कभी सोच नहीं पाया कि लग्न और जल के बारे में उनके मन में आरोपजनक विचार क्या थे? पर उनके बार-बार टोकने का कुछ खास असर हुआ नहीं लगता।

एक बार यही चीज कुछ इससे ज्यादा ईमानदारी के साथ अपने एक मनोविज्ञान के प्राध्यापक मित्र से कही थी, तो वे बोले जानते नहीं मनोवैज्ञानिक

विश्लेषण में इस तरह कहते हैं 'इन्स एन एटेम्प्ट टु ब्रेक द बरियर आव टाइम'। यह समय सीमा से प्रतिक्रमण का प्रयत्न है और यह अप्रतिम जिजीविषा का सूचक है। उन्हों ने बगल में बठे एक दूसरे मित्र ने इस मनोरोग कहा 'मनिक डिप्रेसिव साइकोसिस' यानी उत्साह विषाद मनोतत्व प्रति अभिव्यक्ति बहिर्मुखना यानी प्रसारा तर से वहीं तक लग्न।

किन्तु एक बात मैं मानता हूँ कि समय को बिना अधिकृत किए बीत जाने की विवशता मुझसे सही नहीं जाती है। मैं इसको नाच करता हूँ। घडी नहीं मानता और इसीलिए कुछ घडी और सुघनी के चक्र से भी बरी रहता हूँ। टाइम और न्यूज ! समयातिक्रमण नहीं तो समयानुक्रमण मैं जरूर करता हू। यह समय का अभिमान मेरी रचना प्रक्रिया को अनेकानेक रूपों में प्रभावित करता रहा है।

समय के प्रति लेखक की प्रतिबद्धता, युग बोध के प्रति सचेत अभिमान में निहित है। समय का छ द सचेत द्रष्टा लेखक की रचनाओं में अपने आप झकृत होता है। हमारे जीवन का कोई भी ऐसा अश नहीं है, जो समय से आबद्ध न हो। जीवन के प्रति साक्षी होने का भाव समय के प्रति साक्षी होना ही है। आज भी कथा साहित्य में समय-तत्व की अभिव्यक्ति का सर्वमान्य तरीका चेतना प्रवाह पद्धति (स्ट्रीम आव कान्शसनेस) ही है। मैं वस्तुत व्याप्त सत्य का उत्तम पुरुष (फर्स्ट पर्सन) ही नहीं समय सत्य का साक्षी और भोक्ता पुरुष भी है। एक आलोचक को मुझसे यह शिकायत रही है कि मेरी कहानियों में प्राय एक मैं जरूर होता है। यह 'मैं समय के प्रति मेरी निजी प्रतिबद्धता का साक्षी है जिसके माध्यम से जीवन के प्रत्येक प्रसग को मैं सही ढग से देखना चाहता हूँ। दूसरी ओर यह मैं इस बात का भी सबूत है कि मैं वर्तमान युग मे जो सामूहिक और यान्त्रिक सत्याभासों से परिचालित होने के लिए विवश है अपने निजी खून मास से उपलब्ध सत्य को कहने का प्रयत्न करता हूँ। यह 'मैं एक प्रकार से सभी प्रकार के अनुभवखण्डों बिम्बों प्रतीकों, चरित्राशों तथा सन्देहों को सहज सरलीकृत करके एक स्वाभाविक अतर्निहित एकता के छ द मे ढालने का माध्यम बन जाता है। स्मृति पुनरावर्त्तन (मेमोरी फ्लशेज) की पद्धति मे भी समय चक्र का सही नियोजन कथाकार की समय प्रतिबद्धता या सचेतना का प्रमाण होता है। प्राय भूत से वर्तमान में अथवा वर्तमान से भूत मे सक्रमण कहानियों मे एक मामूली घटना लगती है, परन्तु समय धारा का उद्वेग या परावर्त्तन इतनी सहज चीज नहीं। यह एक अणु विस्फोट की स्थिति है। इसे ठीक से न सँभालने के कारण कहानी का कलेवर जर्जर अथवा क्षति ग्रस्त हो सकता है। इसके प्रति चेतना इसीलिए बहुत जरूरी है। एक छोटा-सा उदाहरण दू नन्हों अपने अपग पति की मृत्यु के बाद रामसुमग की ओर आकृष्ट

होती है। यह एक अभिधाधक वाक्य है। कहानी में मृत्यु का रूप दिखाकर, ठीक उसके बाद प्यार प्रशंसा का चित्रण एक 'शॉकिंग' चीज़ है इसे कहने के कई तरीके हो सकते हैं—एक तरीका यह भी है कई महीने बीत गए। बरसातें आई और गई। पानी सूख गया, बादलों का घिरना बन्द हो गया। बौछारों से टूटी जर्जर दीवारों के घाव भर गए। नई मिट्टी से सज सँवरकर वे पहले जैसी ही लगने लगीं।' इस प्रसंग में कहीं नन्हा का जिक्र नहीं है, पर सचेत पाठक जान जाएगा कि बरसात का और बादल घिरने का और बौछारों का और नई मिट्टी का अर्थ क्या है? वही रामसुभग, नन्हों से तिरस्कृत होकर चला जाता है। नन्हा उसे प्रेम नहीं करती ऐसी बात नहीं। पर रामसुभग के प्रति उसके हृदय में अनेक प्रकार के दुःस्वप्न भी हैं इसलिए वह उसे सहज स्वीकार नहीं करती। मुद्दत के बाद एक बार कलकत्ते से रामसुभग की चिट्ठी आई। नन्हों उसे बाचती रही। एक-एक अक्षर को उचारने में पहाड़ सा समय लग गया, जैसे चबूतरे के पास कलसी के नीचे पानी गिरने से ज़मीन नम हो गई थी। जौ के बीज गिरे थे। जाने कब के। इकट्ठे एक में सटे हुए उजले हरे अँखुवे फूटे थे। नन्हों सहुआइन एकटक उन्हें देखती रही बड़ी देर तक।' ये अँखुवे सिर्फ कलसी के पास ही नहीं हैं। नन्हा के भीतर भी कहीं हैं। और इनके ऐसा होने में कितना और कैसा समय लगाया होगा नन्हा ने?

भाई बात बढ़ती जा रही है और गप्प तो गप्प ही है। शायद ही कभी खत्म होने को आए। यह तो रचना प्रक्रिया का विश्लेषण हुआ नहीं। आप भी जाने क्या सोचते होंगे! अच्छा बाकी कभी फिर

मेरी कहानी-रचना की नेपथ्य-भूमि

काशी
३१ मार्च '६३

प्रिय सम्पादकजी

आपका आग्रह कि मैं अपनी कहानी रचना की नेपथ्य भूमि का संक्षिप्त विवरण लिख भेजूं मेरे लिए गलग्रह हो गया है कि क्या सचमुच मुझे अपनी कहानियों की रंगशाला का सारा कूड़ा करकट बचे खुचे टुकड़े अर्धनिर्मित और उपेक्षित मूर्तियाँ तूलिका साफ करते अनेक रंगों में बदरंग बने चिथड़े, कटे फटे कैनवस अनफिट होते चेहरे मोहरे पफ पाउडर के डब्बे आदि यानी वह सब कुछ जो एक नेपथ्य भूमि में नाटक समाप्त हो जाने के बाद तिरस्कृत सा फैला रहता है दिखाना ही पड़ेगा? उत्सव बीत जाने पर अवशिष्ट उपादानों के देखने से जो टीस होती है उसे कादम्बरीकार ने विगतोत्सवा सा नगरी कहकर उच्छवास में व्यक्त किया है। भाई! मेरी कहानियों का उत्सव क्या समाप्त हो गया कि मैं उनके निर्माण से बचे खुचे टुकड़ों का लेखा-जोखा जुटाऊं? अपने पाठकों की संख्या तो ऐसे भी बहुत कम है जो इने गिने हैं भी क्या वे अपने मानस मंच पर बन-ठनकर उतरी कहानियों की यह नेपथ्य भूमि देखकर खिन्न नहीं हो जाएँगे? अभी कुछ दिन पहले एक पत्र मिला अन्तर्देशीय। लिखा था कि मैं आपकी कहानियाँ पढ़कर बहुत उन्मादित हूं। मैं भी कहानी रचना करने का आकांक्षी हूं। पर मेरी कहानियों में न तो कल्पना की उड़ान है न तो प्रतिभा। नीचे हस्ताक्षर देखा तो थोड़ी राहत मिली क्योंकि वह पाठक नहीं पाठिका थीं। मुझे लगा कि वह पत्र गलती से मेरे पास आ गया है क्योंकि पाठिकाओं के पत्र अक्सर मेरे एक कथाकार मित्र के पास जाते हैं जिन्हें चार सन्नाटे में पुकार उठाने के पहले यानी भूमिका में ही कल्पना की पाठिकाएं टेलीफोन पर हल्लो हल्लो करके परेशान कर देती हैं और टेलीफोनी बातचीत में ही कहानी

का सारा फलसफा बघार जाती हैं। एक पंक्ति में व्याकरण की चार अशुद्धियाँ! और तुर्रा यह कि कल्पना की उठान नहीं है। हुह भला ऐसी पाठिकाओं से मेरा क्या वास्ता! सो भाई साहब, आप क्यों अलानाहक मेरे पाठकों को भड़काने का जाल फैला रहे हैं। अपने राम ने कहानी को न तो कभी 'ट्रेड' माना और न तो उसके कोई 'ट्रेड सीक्रेट्स' ही हैं।

अब देखिए न कथा साहित्य के एक स्वयंभू समीक्षक ने पूछा है कि मेरी अधिकांश कहानियों में एक 'मैं' क्या रहता है? वे खुद आगे उस 'मैं' का प्रयोजन बताते हैं कि यह शायद सेतु है जिसके न होने पर ये कहानियाँ बनती ही नहीं। लीजिए प्रश्न भी पूछा और जवाब भी दे दिया। मैंने 'मैं' शैली अपनाई, क्या? जाहिर है कि हर लेखक का एक अपना 'मैं' है, अन्तर्भुक्त गवाक्ष जिसके भीतर से ही वह सब कुछ देखने का प्रयत्न करता है जो देखा जा सकता है। यह 'मैं' केवल वही नहीं होता जो सचमुच 'मैं' का कोई विशिष्ट रूप नहीं होता। मगर एक 'मैं' है और मैं उसे अपनी शारीरिक और मानसिक सभी शक्तियों के सहारे एक विशिष्ट रूप देने के लिए प्रयत्नशील रहा हूँ। एक मित्र ने एक बार हँसते हुए कहा, "आपकी कहानियाँ अब थोड़ी ट्रांसपेरेण्ट होने लगी हैं, पहले तो ऐसा लगता था कि जैसे मोटे सूत की झिंझरी के अन्दर से देखना पड़ रहा हो!" उनके कथन को सुनकर मैं मुसकराकर रह गया क्योंकि मैं उस समय बोलता तो उनका प्रतिवाद ही करता। गो कि उन्होंने बात सही कही थी। मेरा 'मैं' पहले से अधिक साफ हो रहा है यह मेरे लिए दुहरे सन्तोष की बात थी। झिंझरी थी तो थी, उससे इतना तो लगना ही चाहिए कि मैंने वर्ण्य वस्तुओं में चमक लाने के लिए कभी भी दूसरे के चमकीले से चमकीले गवाक्ष में से झाँकने का प्रयत्न नहीं किया। यह दर्पण मेरा स्वयं का था, मेरी सारी खूबियों और त्रुटियों से निर्मित। इसके पहले भी मेरे ढाले हुए थे इसकी वीक्षण शक्ति भी मेरी ही अर्जित थी।

यह क्या कम आश्चर्य की बात नहीं है कि मैंने साहित्यिक जीवन का आरम्भ कविताओं से किया किन्तु उस समय भी मेरे ऊपर लोक कथाओं की एक अजीब मोहिनी छाई हुई थी। मेरी माँ हर रात सोने के पहले कहानियाँ कहतीं अद्भुत व्यथा और कचोट भरी कहानियाँ। शापित राजकुमारों की नियति में विवश राजकुमारियों की, प्यासे पखेरू और कैद शुक सारिकाओं की। उनकी कहानियों का आधा भाग लोकगीतों में निबद्ध होता। जिनकी धीमी धीमी गन्ध रातरानी की तरह वातावरण में छा जाती! मेरी दादी तब जीवित थीं। माँ से कहीं अधिक प्यार दुलार मुझे उनसे मिला। वे कहानियाँ नहीं कहती थीं लोकगान नहीं गाती थीं सिर्फ मेरे पैरों को धीरे सहलाती थीं कि मुझे नींद आ जाए। मैंने अपनी आँखों के सामने अपने संयुक्त परिवार को टूटते देखा, एक एक जिन्दा

रेशे के कटने का दद भी झेला। और जाने कब, कसे मेरे मन मे कुछ ऐसे चरित्र घर कर गए जो इन जीवित सम्बन्धो क टूटने से व्यथित थे और इसलिए कभी कभी आँगन का विभाजित करनेवाली दीवारा पर चढकर निमम अट्टहास भी कर लेते थे। ये चरित्र खास क्षणो म स्वाथ पर ठेस लगत बौखला भी जाते थ, लडते भिडते भी थे पर तुर त यो बैठ-बोल लेते कि जस कुछ हुआ ही नही। इसी "यथा घुमडन के दिनो मैंने 'दादी माँ' लिखी और एक मित्र क आग्रह पर प्रतीक म भेज दी। अक्टूबर १६५१ के 'प्रतीक' म वह कहानी छपी। परिवार के विषय मे मर मन म एक अजीब मोह है। उसकी बहुत सी चीजें आउट आव डेट हो चुकी है उसम अवांछित शासन की अधिकता और कभी-कभी असमझ लोगो की असहनशीलता के कारण बडी कटुता भी आ जाती है पर समग्र मनुष्य जीवन और अत्याधुनिक जीवन म ता विशेष रूप से पारिवारिकता और उसकी सहानुभूतिपूण चहारदीवारी हम कितना कितना आश्वस्त करती और सहारा देती है। यही परिवार अपनी समूची रूप विरूप छटा और स्थिरता गतिशीलता के साथ मेरी अनेक कहानियो म छाया हुआ है।

मुझे कहानी लिखने के लिए जो चीज सबसे अधिक विवश करती है वह है मनुष्य का चरित्र। चरित्र यानी करेक्टर अक्सर हाट करता है। वह अपने मेग नेटिक आकषण से जसे मेरी मन बुद्धि को खीचता है। यह यक्ति चरित्र स्थूल व्यक्तित्व का एक अग होते हुए भी प्राय अदृश्य रहता है कि तु जिस क्षण वह अपनी पूरी शक्ति से प्रकट होता है उस क्षण ऐसा प्रतीत होता है कि जसे उसने निरथक माटी के लादे को एक रूप दे दिया। एक फूल को ग ध दे गया एक नाम को अथ से जोड गया। ये पात्र क्या है? मेरी कहानियो के अधिकतर पात्र उपेक्षित तिरस्कृत माटी के ढल ही तो हैं अथवा बबूल के सूखे पेड जो किसी राह चलते पथी को भी अपनी ओर खीच नही पाते। एक जगल म मरी छावनी थी चाचा वहाँ का काम-काज सभालते। आस पास मीलो तक ढाक का जगली पेड कटीली झाडियाँ। मगहर का नाला बरसात म उत्तरी सीमान्त को नीची ऊची पहाडिया की शक्ल म ढाल देता। इस छावनी के इद गिद मुसहर कजड, नटो के खेमे पडे रहते। यायावरीय कबीले विचित्र तरह की पोशाकें विचित्र लहजे। इनके साथ पशु-पक्षियो की पूरी जमात होती। खुद मेरे गाँव म भी अक्सर इनक दौरे होत रहत। दोपहर को पीपल और बरगदो क नीचे बठकर मैं इनक परि वार को इनकी आशा आकाक्षाओ प्रम-कटुता को आचार-व्यवहार को घण्टो देखा करता। सुडौल गठील बदन के पट्ठे, साँप तीतर, नेवल कुत्ते। लद्दू भसे। *लडकिया की चुलबुली अदाएँ दोपहर को सुनसान दरवाजा पर खड होकर* रोटी माँगती हँसोड नटिनें गुदना गोदती मूँग गुरियाँ बचती इधर उधर घूमती। शाम को दरवाजा पर बठकर आल्हा गात नट गाँजे की दम लगात हुए सुस्ताते।

यह सब-कुछ इतना इतना देखा है कि चाहकर भी इसे 'ग्रार पार की माला' 'पापजीवी' इन्हें भी इन्तजार है, सँपेरा आदि कहानियों में कहा बाध पाया। यह सारा तिरस्कृत उपेक्षित जीवन मेरे लिए कभी रहस्य न रहा। मेरे सामने वह नट-कन्या के आँचल के दाग की तरह या चोली मे छिपी अफीम की पोटली की तरह स्पष्ट था। वात्स्यायन ने 'पापजीवी' को 'द क्रिमिनल' नाम से 'वाक' के प्रवेशांक में छापा, तो लिखा कि दे ग्रार मोर सिण्ड दन दि सिन इटसेल्फ। मुझे लगा कि कहीं मैंने उनका सब देखा जाना दर्द अथवा उनका सब कुकर्म-कुकृत्य सामने रख दिया होता तो पता नहीं बुद्धिजीवियों की य सहानुभूति के पात्र होते अथवा घृणा के। ये जो भी होते, उत्तरदायी तो हमी हैं कि मनुष्य के एक बहुत बड़े अंश को पशु के धरातल पर जीवन व्यतीत करने के लिए विवश किए हुए हैं।

इन कहानियों ने बेशक लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। कुछ को आतंकित भी किया। बहुतों ने इसे शोध कहा। अनेक ने अद्भुत प्रियता। और कुछ बचकाने लोग इन्हें पुरानी थीम कहने से भी न चूके। बावजूद इन भँडासों के ये कहानियां जिनके लिए लिखी गई थीं उनके द्वारा संवेदना के साथ स्वीकार की गई। निर्द्वन्द्व समीक्षकों ने इनकी अछूती थीम को सराहा प्रशंसा दी। यही उपलब्धि क्या कम थी। मनुष्य अपनी सम्पूर्ण अच्छाई-बुराई, शारीरिक पूर्णता अपूर्णता, मानसिक मलिनता-स्वच्छता के साथ सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी है। उसकी सम्भावनाएँ अनन्त हैं उसकी शक्तियाँ अपरिमेय। अस्तित्ववाद की माला जपने मात्र से मानवीय अस्तित्व और उसके बाधित जीवन को अर्थवत्ता देने की समस्या हल नहीं हो जाती। हमें मिथ्यात्व की चादर को फाड़कर गहराई में जाना ही पड़ेगा।

आंचलिकता! मुझे इस शब्द को सुनकर पहले भी हंसी आती थी अब भी आती है। पर पहले इसे सुनकर माटी की सोंधी गन्ध से नाक भर जाती थी और अब सुनता हूँ तो लगता है कि किसी चिड़िया बेचनेवाले की दूकान में आ गया हूँ या कि किसी विन्टेज क्यूरियो शॉप में। मैंने बहुत बार कहा कि भाइयो मैं आंचलिक नहीं हूँ। मुझे इस पगत मे मत बिठाओ नहीं तुम्हें एक दिन लगेगा कि जिसे अपना समझते थे वही बेगाना हुआ या कि विश्वास देकर 'सबोटाज' किया। मैंने इस आंचलिकता को हमेशा 'डेकोरेशन पीस' की तरह इस्तेमाल किया। हमेशा मेरी कहानियों का यह फलक रहा क्योंकि मेरे पास इनसान के रंग बिरंग चरित्रों की समस्याएँ और उनकी गहराई को समझने का ही पूरा समय नहीं है फिर यह चिड़ियाखाना और टेपरिकार्ड में कहाँ तक ढोता फिरूँगा। मैंने आंचलिकता से क्या लिया? प्रकृति उपमान और मायूस जो मेरे चरित्रों के पैरों के नीचे स्थित है। लोककथाएँ सिर्फ इसलिए कि वे कहीं न कहीं किसी बिम्ब या प्रतीक से जुड़ी हैं जो

मेरी अभिव्यक्ति को उपयुक्त संकेत दे पाएँगी। घर आँगन, चहारदीवारी और उनसे जो मनुष्य के मन के प्रतिबिम्ब हैं और मानसिक द्वन्द्व के समय इनसे छनकर ही ये आवाजें आती हैं, जो इनसानियत का सबूत देती हैं। मेरी गाँव की कहानियों की समस्याएं चरित्र मानसिक द्वन्द्व, सभी आंचलिक नहीं हैं। सार्वभौम हैं। मैंने इसे छुआ परखा चित्रित किया सिर्फ इसलिए कि मैं इसे ही अच्छी तरह जान पाया हूँ। मेरी अनुभव परिधि बढ़ेगी तो वह भी आएगा जिसे आज आंचलिक नहीं कहा जाता। 'वहावृत्ति', शाखामृग, 'वशीकरण अन्धकूप, 'आखें 'ताडोघाट का पुल, 'अपेरा हँसता है' आदि कहानियाँ आंचलिक नहीं हैं। इन्हें फिर से पढ़ना पड़ेगा तब लगेगा कि इनमें कुछ ऐसा है जो आंचलिक कहानियों में नहीं होता कुछ ऐसा जो विचारों की प्रगति के अत्याधुनिक मोड की छाप से अंकित है। असल में परेशानी यह है कि हम लोगों को कैटेगरी में रखकर उनको अलग अलग समझने के कष्ट से छुटकारा पा लेते हैं। इससे बड़ी मूर्खता और क्या होगी कि हम मान लें कि चिन्तन और विचारों की सूक्ष्मता सिर्फ शहरी कहानियों में होती है। शहरी कहानियों में यह ले आना आसान जरूर है। एक तिरस्कृत ढेला, एक उड़ता पत्ता एक बिखरती जीर्ण टहनी, एक काँटों की डाल, एक सूखी हुई छाल, एक गुडी मुडी गठीली जड़ सबके हाथों में सार्थक मूर्ति नहीं बन जाती। अवनीन्द्रनाथ के पास ये ही निरर्थक उपादान एक सार्थक कला का नमूना बन जाते हैं। तो कला का मूल्यांकन उपादानों की अच्छाई-बुराई के आधार पर करना आलोचक की रिक्तता और खोखलेपन का नहीं तो और किसका सबूत है?

नई कहानी पुरानी कहानी के झगड़े असल में उनके निकट महत्त्वपूर्ण हैं जो ऊपरी सतह के वीचि विवर्त का चित्रण ही कहानी का उद्देश्य मान लेते हैं। नई कहानी का अर्थ अन्वेषण है मगर किस चीज का अन्वेषण? नारी के द्रव्यक्रीत शरीर के साथ उद्वेलित मन स्थिति की क्रीडा और वासना का अन्वेषण महत्त्वपूर्ण है या उस व्यक्ति की वह मन स्थिति जो इसके बाद अपने इस कार्य की निकृष्टता को सोचकर ग्लानि से गलित होती है कौन महत्त्वपूर्ण है? एक में बाहरी आवरण की गति है, लहरों के चित्र हैं जिन्हें खण्डित बिम्बों और बिखराव के साथ व्यक्त किया जाता है दूसरी में जीवित मानवता का सबूत है जिसमें बिखराव नहीं एकाग्रता और कम्पैक्टनेस है। ऐसा ही हाल जीवन के दूसरे कार्यों और क्षेत्रों का भी समझना चाहिए। क्या हम मनुष्य तब होते हैं जब होटल, रस्तराँ सड़क भीड़ जनार्णव में भटकते धक्के खाते, खोखली हँसी हँसते एक-दूसरे को गालियाँ देते अपने मिथ्या अहं का विस्फार करते, स्नायुओं की अनर्गल बातचीत और चाय काफी की उत्तेजना से विक्षिप्त बनते चाबी दिए हुए जापानी खिलौना से हिलते डुलते नजर आते हैं अथवा हम मनुष्य तब होते हैं जब इन सभी विवशताजन्य कामों से छुट्टी पाकर थके थकाए लौटते हैं और जब हमें एक घर न होने की कचोट,

या घर होने पर आत्मीयता न पाने की पीडा, तोडती सी प्रतीत होती है ? अन्वेषण नारी नारी के बीच समलिंगी सम्बन्धो का कि अन्वेषण उस व्यक्तित्व या चरित्र का जो लबादे की तरह पेशावखाने की दीवाल पर कील से टाग दिया गया है ? अन्वेषण ! यह एक खोखला शब्द मात्र है। मैंने अपनी कहानिया मे इस ऊपरी सतह की हलचल का अन्वेषण अन्वेषण के लिए कभी नही किया, इसलिए मेरी कहानियाँ तथाकथित नई कहानी नहीं कही जा सकती तो न कही जाएँ। मुझे इसके लिए चिन्ता नहीं। आलोचकों से मिथ्या स्वीकृति पाने की मुझे परवाह नही।

मनुष्य, जीवन भविष्य ! ये प्रश्न शायद आज कोई अर्थ नही रखते हम जीवन ऊष्मा के कथाकार न होकर सन्त गतिहीनता को ही अपना आदर्श मान चुके हैं। मेरा अपना एक मत है एक विचारधारा है। मेरी कहानिया के चरित्र वातावरण, उद्देश्य सभी इस विचारधारा के भीतर से ही उठें, ऐसा मेरा प्रयत्न रहा है। अब तक यह बात मेरे पाठको और समीक्षको को स्पष्ट न हो सकी तो यह मेरी दुर्बलता है। मैंने गान से थीम शैली के नये प्रयोग लोककथाओं के टुकडे अथवा लोकगीतो के बिम्ब चित्र अपनी इसी विचारधारा की पुष्टि और अभिव्यक्ति के लिए चुने। शिल्प की भी स्वाभाविक स्थिति शहरी या तथाकथित आधुनिक कहानिया की अनिवार्य पृष्ठभूमि मान ली गई है। बरगद का पेड, कबडे का फूल महुए के फूल आर पार की माला, ताडीघाट का पुल, ये किसके पक्ष हैं ? टूटे शीशे की तस्वीर के शिल्प या ता लोगो ने समझे ही नही या तो वे मानना चाहते नही कि गाँव की आचलिक कहानियो म भी अछूता मौलिक शिल्प हो सकता है !

इसलिए भाई नेपथ्य भूमि का विवरण देना न देना दोना बराबर हैं। क्याकि समसामयिक साहित्य का सही मूल्याकन विरले लोग ही कर पाते हैं जिनकी दृष्टि सकुचित दायरो से सभी तरह से मुक्त हो। नही तो कथाकार को यदि वह अपनी आस्था और विश्वास मे जीवित रहा ता प्रतीक्षा ही करनी पडती है उन पाठको की समीक्षको की निर्णयदाताओं की जो आज अभी प्राइमरी स्कूलों म पढ रहे हैं या अगले वर्षों म पैदा होंगे। आप कहग कि नेपथ्य भूमि की बात तो अब भी रह ही गई तो रहने दीजिए। जिन्हें नाटक पसन्द नही उन्हें नेपथ्य भूमि का विवरण समझाकर भी क्या लाभ ! और मेरे लिए तो यह विवरण देना और भी कठिन है क्योंकि मैं न तो गिरते बाजार से चिन्तित हू और न ट्रेड के लिए चमकीले विज्ञापनों म विश्वास करता हू। एक बात और। भारत का सामाजिक जीवन क्या अब आगे भी रेस्तराँ कैफे म खोखली हँसी हँसने और गप्पबाजी करके समय काटनेवाला तक ही सीमित रह सकेगा ? स्थिरता टूटी है कुछ कसर है तो दूसरे धक्के के साथ समाप्त हो जाएगी।

आरकेस्ट्रा के बीच एक अलग आवाज

प्रियधर्मा या युगेन (ऐसा ही कुछ लगता है तुम्हारा नाम) तुमने पूछा है कि एक कहानीकार के रूप मे मेरा परिचय क्या है। तुम्हारी यह आवाज कई दृष्टियो से रहस्य से भरी भरी लगी। इसलिए नही कि यह अवसर सुनाई पडने वाली उन नगी और बेलौस आवाजो से भिन्न थी जो साहित्यकार से उसका परिचय पूछती नही, अपना एक निणय जरूर ला देती हैं बल्कि इसलिए भी कि आज कहानी के वातावरण म कटक फीकी, कक्श मधुर, असम्वादी सम्वादी आवाजो का एक ऐसा 'आरकेस्ट्रा' जारी है कि पाठक तो पाठक लेखको तक ने कान पर हाथ धर लिए हैं और इस स्वर सगम मे एक ऐसी आवाज जो कुछ कहने के लिए नही कुछ सुनने के लिए उभरी है रहस्य से भरी लगे तो इसम क्या आश्चय ! अब देखो न आज की हिन्दी कहानी को लेकर कितना कितना कहा गया और कहा जा रहा है और यह सब कुछ कितना कितना तीखा और शोर शराबे से भरा हुआ है। लगता है कि हर आवाज एक दूसरे का गला दबाने के लिए ही उपजी-पनपी है ताल लय से मल करने, साज सजाने सहयोग करने अथवा सम्वादी स्वर बनने के लिए नही। इनम कुछ नय स्वर हैं कुछ पुराने। कई तरह के बाजे भी हैं। बन्धुवर इन्द्रनाथ मदान के पास इन बाजो की पूरी सूची भी है। और उन्होने नई कहानी म पियानो गिटार वायलिन टोनर यानी सभी तरह के बाजो की ध्वनि नलियाँ भी खोज निकाली हैं। उनके हिसाब से मेरी कहानियाँ मन्नवाजी हैं यानी मिरन्गिया वधावार'। सच तो यह है कि यह नाम अगर देना ही है तो मुझे नहीं मेरे मित्र रेणु को मिलना चाहिए यानी रसरिरियावार का। मुझ तो यह बाजा भी भारी ही लगता है। मुझ अगर पसन्द करना ही पडे तो उस 'गजडी गायक' का चुनूँगा जो कन्धे पर भिक्षा की झोली के साथ गाटे म गजडी भी लटका लेता है और कभी धान की बालियो से सुभित महा ग, कभी रबी

फसलों से भरे खेतों की तिरछी डगर से, कभी झनझन करती परती की बालू भरी पगडण्डी से काली छाया की तरह फिसलता हुआ एक गाँव से दूसरे गाँव की दूरी नापा करता है। प्यास लगी तो कुएँ के पास बैठ गया, छककर पानी पिया, इधर उधर से आग या माचिस माँगकर बीड़ी धराई और फिर लोगों ने माँग की तो कजली, लावनी चली के बोल उभर पड़े। हथेली की गमक से मदरे के पास की छोटी झाँझें झनक उठीं, स्वर और गीत का समा छा गया आह एकदम अछूती धरती की सोंधी गन्ध ! है न ? पर उस गायक से पूछिए तो उसे कौन प्यारी है ? यात्रा या खजड़ी ? बेशक खजड़ी कम प्यारी नहीं है, पर साधन सम्बल ही तो है वह। यात्रा जीवन है, खजड़ी जीवन-संगिनी।

मुझे मालूम है कि तुम अब इसके बाद कोई प्रश्न न करोगे। लोक जीवन की इतनी रंगीनी भी तुम्हें एक क्षण के लिए आज के दमघोंट वातावरण से उठाकर कहीं दूर की फसलों की हरियाली में पहुँचा आ गई होगी, जहाँ तुम आँख मूँदकर सरसों की पीली पीली खुशबूदार मोजरों का दृश्य देख रहे होगे और बड़े प्रेम से आंचलिक कथाकार' को शाबाशी की बखशीश दे रहे होंगे। वह तुम्हें दुआ देगा, भीख की झोली और खजड़ी सोटे में लटकाकर कंधे पर रख लेगा और एक लम्बी साँस लेकर किसी दूसरे गाँव की डगर पर चल देगा।

गायक ! तुम्हारी यह खजड़ी खाती क्या है ?' आह, आखिर तुमने वह सवाल पूछ ही दिया न ! इसी का तो मुझे डर था। तुम एक अच्छे आदमी हो। भले लोग ऐसा सवाल नहीं पूछते भया। जानते हो इस सवाल से क्या होता है ? यह सवाल खजड़ी के पर्दे को तोड़ देता है। झाँझों को कुचल देता है। इस सवाल के उत्तर में क्या गायक को मुसकराकर चुप हो जाना पड़ता है। पर ऐसे ही चुप वह पहले नहीं होता था। कवि बच्चन के शब्दों में —

ओ सरंगी साधु से मैं पूछता था,
क्या इसे तुम हो खिलाते ?
ई हमार करेज खाथ मोर बचवा
खाँसकर वे थे बताते।
और मैं मारे हंसी के लोटता था
सोचकर उठता सिहर जब
तब न थी संगीत कविता से,
कला से प्रीति से मेरी चिन्हारी।
याद आते हो मुझे तुम ओ
लड़कपन के सवेरों के भिखारी॥

हाँ इसीलिए मैंने कहा कि आगे कुछ पूछना मत। नहीं तो मुश्किल होगी। ई मोर करेज खाथ सुनकर हमारे आलोचक हसेंगे, क्योंकि आंचलिक कहानी

स उसकी सोच सीमा और रुचि तक ही सीमित है। नगर की भागदौड़ म उसने भी तस्वीर के रूप उठाना चाहा। क्योंकि तब ऊपर का इन्द्रजालिक पर्दा हट जाता है और तब यह रूप देखना पड़ता है जिसमें राह भी होता है और घृणा भी। तब उसे लगता है कि यह मात्र ग्राम आंचलिक कथा-नायक भर ही नहीं है, यह तो चीजों का देखता और समझता भी है। तो कहीं यह हमारी बातचीत और दुख का मोल-तोल न करने लगे। इसलिए बेहतर है कि इसके खान-पान तक ही इसे को सीमित रखा जाए।

कथा-नायक इसे भी समझता है, पर उसके चेहरे की शिकन म कोई फर्क नहीं आता। वह उसी धुन म एक गाँव स दूसरे गाँव की अपनी आवारा यात्रा जारी रखता है। उसी प्रकार कथा-हारा वह कुओं के पास थककर पानी पीता है और उसी प्रकार अपना गीत का सारा दर्द छिपाए हुए मुस्कराकर गजड़ी पर थाप देता है उसकी आवाज म महुए तक म तर होती जाती है और उसके इर्द गिर्द गीत के घायल भौंरों के झुण्ड चारों तरफ मँडराते रहते हैं।

कितनी अलग अलग हैं हमारी यात्राएँ। यानी हर यात्रिक का एक अलग पथ है अपना एक अलग अनुभव है। ऐसे ही पथ ऐसी ही यात्राएँ अजाने काल से होती आ रही है और होती रहेंगी। पर हमारे इन अलग अलग पथो को समेटकर एक समष्टिपथ भी चलता है और यात्रा वहाँ भी होती है। वहाँ यात्रिक होता है मनुष्य, लाखो वर्षो स सास्कृतिक यात्रा म लगा हुआ मनुष्य! मनुष्य आज काफी लम्बी यात्रा तय कर चुका है। है न? पर क्या हमारे समानान्तर ही ऐसे अनेक पथ नहीं हैं जिन पर आने वाले यात्रिक बहुत पीछे छूट गए हैं जो रास्ते की हर मुश्किल स जझने हुए गिर गिर पडते हुए पुन उठकर विरोधो स टकराते हुए आगे बढ़ने की कोशिश कर रहे हैं हाँ इन्हें आप जो भी नाम दे लें सामाजिक रूप से पापजीवी राजनीतिक रूप से 'पिछडा हुआ'। पर सच यदि आपको मनुष्य जाति की महत यात्रा के सभी मोडो को सही परिप्रेक्ष्य म देखना है तो इनकी अलग अलग यात्रा और पथ की बाधाओ से जूझती इनकी आत्मा की आवाज भी सुननी होगी। इसी आवाज का तकाजा था कि मैंने नटो मुसहरो कजडो डोम तथा अनेक यायावरीय कबीलो पर अनेक कहानियाँ लिखी। इन्हें भी इन्तजार है —कहानी सग्रह को पढकर जब गुरुवर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा कि तुमने अदभुत ससार को प्रत्यक्ष कराया। सुभागी नन्हो बिहरिया कबरी दीनू फुन्नन मियाँ, सिजोगी, लहरी जगिया पण्डित घूरेलाल आदि सचमुच इन्तजार मे थे तो मुझे लगा कि व्यक्तिगत यात्रा मे पीछे लौटकर लडखडाते सहयात्रियो को थाम लेना, उनके सुख दुख मे हस रो लेना भी एक पवित्र काय है।

किन्तु क्या बहिर्यात्रा म ही लोग समय और अवसर के इन्तजार मे

बठे हैं ? भीतरी यात्रा, अन्त यात्रा मे क्या कोई किसी के इन्तजार मे नही है ? किसी दिन सामान्य रूप से माने जाने वाले ढग-ढर्रे से प्रतिकूल किसी सहज काम के होने पर अनुभूति की जो रोशनी उठती है, क्या वह उस बल्ब से नही आती जो अभी जलने के इन्तजार मे था ? समझ हरेक राज को मगर फरेब खाये जा की अनुभूति से क्या कही भीतर की अवचेतना का कोई अछूता 'बल्ब' नही जल उठता ? क्या हर मनुष्य के मन की नाना पर्तों म भाव-बोध, ईश्वरिक साक्षात्कार और आत्मिक शक्तिया के अत्यन्त प्रकाशपूण बल्ब नही छिपे हैं ? और क्या इन नाना पर्तों को बेधती कभी परिधि पर चक्कर लेती, कभी केन्द्रोन्मुख सन्तरण करती बुद्धि की यह अन्त यात्रा किसी माने म बहि यात्रा से कम आकषक और महत्त्वपूण है ?

और फिर इन यात्राओ के पथ क्या देशकालातीत समानान्तर ही हैं ? या व एक-दूसरे को कहीं काटते भी हैं ? क्या नाना जाति वण भाषा म बँटी मनुष्यता के इन अनेक यात्रापथा की कही तिमुहानी चौमुहानी भी है या नही ? नया पुराना, आधुनिकता परम्परा, आदश-यथाथ, य सभी कुछ तो नाम हैं इन तिमुहानिया चौमुहानियों के। है न ? फिर क्या आज का युग बोध इतना सीधा है कि उस किंचित मे बाँधकर कह दिया जाए ?

हाँ, तो सुना इन कहानियो को लिखते समय य सभी प्रश्न ये सभी मोड मेरी चेतना मे उपस्थित ही नही थे, सजग थे। इसीलिए इन कहानिया को उस ढग से मत पढ़ो जसे आचलिक कहानियो को पढने की शिक्षा दी जाती रही है। नही तो तुम्हें बिन्दा महराज, पापजीवी इन्हे भी इन्तजार है शाखामृग वहावृत्ति आदि कहानियाँ सिफ वगगत चरित्रा का स्कच लगेंगी और नन्हो, मरहला, खेल कज बीच की दीवार आदि कहानियाँ भारी प्रतीत होने लगेंगी। एक को पढकर लगगा कि किसी समाजशास्त्री के अनुसन्धान कक्ष मे आ गए हो और दूसरी को पढकर लगेगा कि इसमे न धरती की सुवास है न गीतो की गमक।

कितनी कहानियाँ लिखी हैं ? हाँ ज्यादा नही, जो कहानी अगले हफ्त पढोगे वह बिल्कुल ताजी है और यह अट्ठावनवी कहानी है।

तो इन्ह पढते वक्त एक सजग यात्रिक की तरह कथाकार के साथ चलो यही उसकी प्राथना है यही उसकी आरजू। मगर मैं पहले स बताए देता हूँ कि मैं चौमुहानी या तिमुहानी पर कुछ देर रुकने के ता पक्ष मे हूँ, पर तुम वहा की चाकचिक्य म यदि विलम रहोगे तो मैं लाचार होकर चल पडूगा क्योकि मेरा रास्ता तिमुहानी या चौमुहानी से गुजरता जरूर है पर वहीं खत्म नही होता।

'ता इधर घमयुग म जो लेख-कहानियाँ आदि किसी शिवप्रसादसिंह की

निकली हैं वे क्या आप ही की हैं ?"

'जी।"

'यानी कीतिलता और सूरपून ब्रजभाषा वाले शिवप्रसादसिंह की ?'

'हां।

'अच्छा !' थोडा आश्चर्य, थोडी हैरानी, थोडी निराशा से मेरी ओर देखा था उस दिन डा० उदयनारायण तिवारी ने। हिंदी विभाग मे यह बातचीत चली थी उनसे। डा० तिवारी का मुझ पर स्नेह है। उन्हे जरूर लगा होगा कि कहानिया वहानियाँ लिखकर यह समय खराब कर रहा है। मुझे कोई गुरु गम्भीर शोध कार्य करना चाहिए।

एक मित्र है जो मुझे 'ओरियण्टलिस्ट' कहते हैं। और इस तरह अपराधी की तरह सिर झुका लेते हैं गोया मुझे कम्युनिस्ट कह दिया हो।

जाने कैसे लोगो ने यह बद्ध मूल धारणा बना ली है कि किसी चायघर या काफी हाउस मे गम गम पानी से कलेजे को ओटकर चारमीनार सिगरेट के कडवे धुए से फेफडे को खरखरा कर, सुबह से शाम तक सडको पर मटरगश्ती करने या सम्पादको के पास बैठकर गप्पें हांकने से ही अच्छी कहानी निकलती है। कुछ और दूसरे भी हैं जो यह माने बैठे है कि ये हल्की फुल्की चीजें यानी कहानी वहानी उन्हे लिखना चाहिए जो अध्ययन और श्रम से परहेज रखते हो, यानी दिमागी कामो के काबिल न हो।

सच मुझे उस समय बडा अचम्भा होता है जब निहाई पर लोहा पीटने वाले घूरे मिस्त्री को हारमुनियम बजाते देखता हूँ। कुदाल की मार से बजर पथरीली धरती तोडनेवाले भीखम चाचा सतपुतिया के फूलो को या सहलाते थे जैसे पालतू खरगोश के कान मे से धूल झाड रहे हो। यदि मैं जगल की सख्त लकडियो को टग की चोट से छिलगान वाले टीमलमुसहर से कहूँ कि मल आदमी आँख की बूटो को अपनी पथरीली उँगलियो से ऐसी मुलायमियत से क्यो झाड रहे हो तो वह क्या सोचेगा ? जाने क्यो गिरधारी मुनीम को मैं अपना आदमी नही मान पाता जो दूकान से आकर चारो खाने चित गिर जाता है और खाने के लिए जगानेवाली मासूम बीवी पर बरस पडता है। न ही लट्टूसिंह को ही जो कीलदार बूट पहनकर मटरगश्ती करते हैं और चारपाई पर लटकर अपने खाली जब को नये युग या आधुनिकता का तकाजा कहकर बुद्धि का सतोष देते रहते हैं।

'आप भी भोलू चौधरी खूब हो अरे भले आदमी तालाब मे इतनी सुन्दर जलकुम्भी लगा' तो उमर तक पर य मातपत्ता क्या रूध दिया ?

भोलू चौधरी मेरी ओर या देखते हैं गोया मैं बिल्कुल नादान हूँ क्या इसमे अचम्भे की क्या बात है ? देखते नही कितने खूबसूरत गवर फूल निक

हैं ? बाड न बनाऊ तो क्या इन्ह गाव की भैंसो को चरने के लिए छोड दू और फिर वे चरती ही तो नही भैया, इसमे हेलकर पानी को गन्दला कर देती हैं और मडिया मारकर बैठ जाती हैं।"

शकापुत्र बनाम अनास्था के वटे। यह शिखरा का सेतु के एक निबन्ध का शीर्षक है। वही से यह एक परिच्छेद भी उदधृत कर रहा हू।

'साहित्यकार इन सबसे अलग 'इकाई' तो नही है। वह खुद इस पागल तन्त्र और उच्छ खल चक्र के नीचे पिसता है। दूर से बठकर आस्था और सन्देह हीनता की बात तो स्वयभू आलोचक ही करता है, सजक अपनी पीडा को चाहकर भी नही भूल सकता। बस उसके लिए एक ही रास्ता है, वह है आत्म-विश्वास और अपनी ईमानदारी म आस्था। इसी के बल पर शका सन्देह, अनिश्चितता, अतार्किक जीवन के बीच वह अपनी कला के माध्यम से सहस्रा लोगो तक जीवन का सन्देश पहुँचा सकता है। वह अपने दु ख और सुख को सबके दु ख और सुख के साथ मिलाकर जी सकता है।'

शिखरा का सेतु' पुस्तक की समीक्षा लिखते हुए मेरे आदरणीय मित्र डॉ० प्रभाकर माचवे ने लिखा था— शिवप्रसादसिंह मार्क्सवाद की आर्थिक मज बूरियों से परिचित हैं, वे अस्तित्ववाद की गहन निराशा भरी 'नो एग्जिट' वाली विवशता से भी परिचित हैं—व सीमाओ को जानकर आर पार देखना चाहते हैं। वे सचेतन रूप से अवचेतन म अवगाहन करते हैं यही उनकी आधुनिकता है। सच तो यह है कि मैंने कभी भी किसी वाद या दशन को साहित्य का आवरण नही बनाया है। मैं ऊपर से लादी हुइ आस्था का उतना ही विरोधी हूँ जितना आत्मघाती दिशाहीन अनास्था का। मैं मानता हूँ कि परम्परा को जानकर उसक अवाछित तत्त्वो को अस्वीकार करना आस्था है क्योकि तब वहाँ सज्ञान अस्वीकृति का भी एक सम्बन्ध होता है। नतिकता को जानकर उसके आडम्बर को तार तार कर देना आस्था है, पर मैं यह भी मानता हूँ कि परम्परा को बिना जाने उसे अस्वीकार करने का प्रयत्न ढोग है। नतिकता, आस्था या सस्कृति को बिना समझे उसस कतराने का प्रयत्न खोखलेपन का द्योतक है। मैं साहित्य को आत्म अन्वेषण की प्रक्रिया मानता हूँ और मरा विश्वास है कि मनुष्य मात्र स्वभावत चरम अनास्था का विरोधी है।

बहुत पहले की बात है। एक कवि था जान क्लेयर। लोगो ने उसे पागल समझा और वह पागलखाने म बन्द कर दिया गया। उसी पागलखाने म, काली दमघोट चाहरदीवारी के भीतर सभी प्रकार की घुटन पीडा आत्मविदीणता विशृखलता के बीच उसने सत्य की एक रोशनी पाई और अपने को पहचान सका।

अपनी सभी विपदाओं का मैं ही स्वय भोक्ता हूँ—
आत्महारा। फिर भी मैं जिन्दा हूँ।

नि

ी जुगुप्सा, तिरस्कार शोरगु
कुछ न होने के निरथक से
जीवन की खुशियों का कु
दा हूँ।

काली से काली रात्रि के भीतर विड
मुक्ति की यह चेतना ही कलाकार की उप

"यह मुर्दा सराय और पार्श्ववर्ती पी

'मुर्दा सराय, उस कहानी का शीर्ष
वर्ती पीपल और कुछ नही एक सचेत अ
की सारी मुदनी को शका से आहत करत

"तो क्या यह कोई अस्तित्ववादी क

'मैंने कहा न कि मेरी कहानियो को
पढना ठीक नहीं है, और फिर क्या मुर्दा
है ?'

आशा है तुम मेरी कहानी को बिल्कु
पढोगे और मुझे बताओगे कि यह तुम्हे क

बस।

निक

ली जुगुप्सा, तिरस्कार शोरगुल के,
' कुछ न होने के निरथक से भाव मे
! जीवन की खुशियो का कुछ भी अथ नहीं होता
रदा हूँ।

काली से काली रात्रि के भीतर विडम्बना ग्रस्त जीवन की मुक्ति म मुक्ति की यह चेतना ही कलाकार की उपलब्धि होती है।

"यह मुर्दा सराय और पाश्ववर्ती पीपल क्या है ?"

'मुर्दा सराय, उस कहानी का शीपक है जो तुम अगले हफ्ते पढ़ोगे। पाश्ववर्ती पीपल और कुछ नही एक सचेत असपक्त द्रष्टा मात्र ह जो अपने इद गिर्द की सारी मुदनी को शका से आहत करते रहने म ही सन्तोष पाता हैं।'

"तो क्या यह कोई अस्तित्ववादी कहानी ह ?"

'मैंने कहा न कि मेरी कहानिया को किसी वाद के चश्मे के भीतर से पढना ठीक नही है, और फिर क्या मुर्दा सराय म अस्तित्ववाद जिन्दा बचता है ?"

आशा ह तुम मेरी कहानी को बिल्कुल निमुक्त और स्वच्छन्द भाव से पढोगे और मुझे बताओगे कि यह तुम्ह कसी लगी।

बस।

□□□